महीने की तपश्चर्या के अन्त में पारणा के लिये उसी यज्ञशाला में पधारे। वे अपरिचित ब्राह्मण साधु की हंसी मजाक उड़ाने लगे। जब इससे भी साधु पर कुछ असर न पड़ा तब वे उन्हें मारने लगे। ऐसे कुसमय में उस तिन्दुक यक्ष ने वहां उपस्थित होकर क्या किया, तथा भद्रा देवी को जब सब बात मालूम हुई तब उसकी क्या दशा हुई, सारा वातावरण तपश्चर्या के प्रभाव से कैसा महक उठा, आदि सब बातों का इस अध्याय में वर्णन किया है।

वर्ण और जाति का विधान अभिमान बढ़ाने के लिये नहीं किया गया था। वर्ण व्यवस्था वृत्ति भेद के अनुसार की गई थी। उसमें ऊंच नीच के भेदों को कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब से उसमें ऊंच नीच का भेद भाव आया है तब से सच्ची वर्ण व्यवस्था तो मिट गई है और उसके स्थान में (दूसरों के प्रति) तिरस्कार और (अपनेपन के बड़प्पन का) अभिमान ये दो भाव आगये हैं।

भगवान महावीर ने जातिवाद का बड़े जोरों से खण्डन किया था। गुणवाद का प्रचार किया था, सब को अभेदभाव रूपी अमृत पिलाया था और दीन, हीन तथा पतित जीवों का उद्धार किया था।

भगवान सुधर्म ने जम्बू स्वामी से कहा:—

(१) चाण्डाल कुल में उत्पन्न किन्तु उत्तम गुणी ऐसे हरिकेश बल नामक एक जितेन्द्रिय भिक्षु हो गये हैं।

(२) ईर्या भाषा, एषणा, आदान भंड निक्षेप, उच्चार पासवण सेल जल सघाण पारिठावणिया इन पांचों समितियों को पालन करने वाले तथा सुसमाधि पूर्वक यत्न करने वाले,

(३) मन से, वचन से, काय से गुप्त (इन तीनों को वश में रखने वाले) और जितेन्द्रिय ऐसे वे मुनिराज भिक्षा के लिये ब्राह्मणों की यज्ञवाट के पास आकर खड़े हुए।

(४) उग्र तप के कारण सूखी हुई देह तथा जीर्ण उपधि (वस्त्रों) तथा उपकरण (पात्र आदि) वाले उन मुनिराज को आते देखकर अनार्य पुरुष हंसने लगे।

टिप्पणी—मुनि के वस्त्र कंबल पात्र आदि को उपधि तथा उपकरण कहते हैं।

(५) जातिमद से उन्मत्त बने हुए, हिंसा में धर्म मानने वाले, इन्द्रियों के दास, तथा ब्रह्मचर्य से रहित वे मूर्ख ब्राह्मण साधु के प्रति ऐसे कहने लगे:—

(६) दैत्य जैसे रूप वाला, काल के समान भयंकर आकृति वाला, बैठी नाक वाला, फटे वस्त्र वाला, तथा मलिनता से पिशाच जैसे रूप वाला, सामने कपड़ा लपेट कर यह कौन चला आरहा है? (उन लोगों ने अपने मन में कहा)

जब मुनि आकर उनके पास खड़े हुए तब उनने मुनिसे कहा:—

(७) अरे! ऐसा अदर्शनीय (न देखने योग्य) तू कौन है? किस आशा से तू यहां आया है? जीर्ण वस्त्रों तथा मलिन रूप से पिशाच जैसा दिखने वाला तू यहां से जा। यहां तू क्यों खड़ा है?

(८) इसी समय महामुनि का अनुकंपक (प्रेमी), तिन्दुक वृक्ष वासी यक्ष, अपने शरीर को गुप्त रखकर (मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर) यों कहने लगा—

टिप्पणी—यह वही यक्ष है जो मुनि का सेवक था और उसीने शरीर में प्रवेश किया है।

(९) मैं साधु हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। संयमी हूँ। धन, परिग्रह तथा दूषित क्रियाओं से विरक्त हुआ हूँ और इसीलिये दूसरों के निमित्त बनाये गये अन्न को देखकर इस समय मैं भिक्षा के लिये आया हूँ।

टिप्पणी—जैन साधु दूसरों के निमित्त बनाये गये अन्न की ही भिक्षा लेते हैं। अपने लिये तैयार की गई रसोई वे ग्रहण नहीं करते।

(१०) इस अन्न में से बहुतों को भोजन दिया जा रहा है, बहुत से ले रहे हैं, बहुत से स्वाद पूर्वक खा रहे हैं, इसलिये बाकी के बचे अन्न में से थोड़ा इस तपस्वी को भी दो, क्योंकि मैं भिक्षाजीवी हूँ-ऐसा आप जानो।

(११) (ब्राह्मण बोले)—यह भोजन ब्राह्मणों के ही लिये तैयार किया गया है। एक ब्राह्मण पक्ष (समूह) अभी यहाँ आकर जीमेगा उसीके लिये यह यहां लाकर रक्खा है। इसमें से तुम्हें कुछ भी नहीं मिल सकता। तू यहां क्यों खड़ा है?

(१२) उच्च भूमि में या नीची भूमि (दोनों) में किसान; आशा पूर्वक योग्यता देखकर बीज बोता है। उसी श्रद्धा से तुम मुझे भोजन दो। और इसे सचमुच एक पवित्र क्षेत्र समझ कर इसकी आराधना करो।

टिप्पणी—वस्तुतः उक्त वाक्य मुनि मुख से यह यक्ष ही कह रहा था।

(१३) वे क्षेत्र, जहां बोए हुए पुण्य उगते हैं (जिस सुपात्र को दान देने से वह सुफल होता है) वे सब हमें खबर हैं।

जातिमान (कुलीन) तथा विद्यावान, जो ब्राह्मण हैं वे ही बहुत उत्तम क्षेत्र हैं।

टिप्पणी—ये वचन यज्ञशाला में स्थित क्षत्रियों के हैं।

(१४) क्रोध, मान, हिंसा, झूंठ, चोरी, परिग्रह (वासना) आदि दोष जिनमें हैं ऐसे ब्राह्मण, जाति तथा विद्या इन दोनों से रहित हैं। ऐसे क्षेत्र तो पाप को बढ़ाने वाले हैं।

टिप्पणी—उस समय कुछ ब्राह्मण अपने धर्म से पतित होकर महाहिंसा को ही धर्म मनवाने का प्रयत्न करते थे। ऐसे ब्राह्मणों को लक्ष्य करके ही यह श्लोक यक्ष की प्रेरणा से मुनि के मुखसे कहलाया गया है।

(१५) अरे! वेदों को पढ़कर तुम उसके अर्थ को थोड़ा सा भी नहीं जान सके? इसलिये तुम सचमुच वाणी के भारवाहक (बोझ ढोने वाले) हो। जो मुनि ऊँच या सामान्य किसी भी घर में जाकर भिक्षावृत्ति द्वारा संयमी जीवन बिताता है वही उत्तम क्षेत्र है।

यह सुनकर ब्राह्मण पंडितों के शिष्य बहुत ही गुस्से हुए और बोले:—

(१६) हमारे गुरुओं के विरुद्ध बोलने वाले साधु! तू हमारे ही सामने क्या बक रहा है? भले ही यह सारा अन्न नष्ट हो जाय, परन्तु इसमें से तुझे कुछ भी नहीं देंगे।

(१७) समितियों के द्वारा समाहित (समाधिस्थ), गुप्तियों (मन, वचन, काय) से संयमी तथा जितेन्द्रिय मुझ समान संयमी को ऐसा शुद्ध खानपान न दोगे तो आज यज्ञ का क्या

प्रथम जन्म में ये दोनों दशार्ण देश में दास रूप में साथ ही साथ थे। वहां से मरकर दोनों कालिंजर नामक पर्वत पर साथ ही साथ मृग हुए। संगीत पर उनका गहरा मोह था। वहां से मर कर दोनों मृत गंगा के किनारे हंस रूप में जन्मे। वहां भी स्नेह पूर्वक रहे और प्रेमवश से एक ही साथ मरे। वहां से निकल कर उन दोनों ने काशी में चाण्डाल का जन्म पाया।

उस समय नमुचि नामक प्रधान अति बुद्धिमान तथा प्रकांड संगीत शास्त्री होने पर भी महा व्यभिचारी था। उसने राजा के अन्तःपुर की किसी स्त्री से व्यभिचार किया। यह बात राजा को मालूम हुई। तो उसने उसे मृत्यु दंड की शिक्षा दी।

होनहार बड़ी बलवान है। 'जो काहू से न हारे, सोऊ हारे होनहार से' —की कहावत अक्षरशः सत्य है। राजा द्वारा दंडित नमुचि फांसी के तख्ते पर खड़ा किया जाता है किन्तु फांसी देने वाले चाण्डाल (यह चाण्डाल चित्त और संभूति का पिता था) को नमुचि पर बड़ी दया आ जाती है और वह उसे बचा कर अपने घर में छिपा लेता है और अपने दोनों पुत्रों (चित्त और संभूति के पूर्व भव के जीवों) को संगीत विद्या सिखाने पर नियुक्त करता है। योग्य गुरु के पास रह कर थोड़े ही दिनों में वे दोनों बालक संगीतविद्या में पारंगत हो गये। मनुष्य कितना भी बड़ा बुद्धिमान क्यों न हो किन्तु विषयों के चक्कर बड़े ही [illegible] से बुद्धिमान भी उसमें फंस जाते हैं [illegible] [illegible] नहीं हुआ। [illegible] उसने [illegible] में भी व्यभिचार सेवन किया और

उसको अपने प्राण लेकर वहां से भाग जाना पड़ा। अन्त में घूमते २ वह हस्तिनापुर आता है और पुण्य प्रभाव से अपनी विद्या तथा गुणों के कारण वहां के राजा का प्रधान मंत्री बन जाता है और उसके हाथ के नीचे सैंकड़ों मन्त्री काम करते हैं।

इधर, चित्त और संभूति अपनी संगीत विद्या की प्रवीणता द्वारा देश की सारी प्रजा को आकर्षित करते हैं। इससे काशी राज के संगीत शास्त्रियों ने ईर्ष्या के कारण उन दोनों का अपमान कराके राजा से नगर के बाहर निकलवा दिया। यहां यह दोनों बड़े ही दुःखित होते हैं और निरुपाय होकर पहाड़ पर से गिर कर आत्महत्या करने का विचार करते हैं। आत्महत्या के लिये ये पहाड़ पर चढ़ते हैं। यहां पर उनको एक जैन मुनि से भेंट होती है। वे उनसे अपने दुःख का कारण तथा उससे निवृत्ति के लिये आत्महत्या करने के निर्णय को कहते हैं। अनन्त करुणा के सागर वे जैन मुनि इन दोनों की कथा सुन कर उन्हें जगत की असारता, विषयों की क्रूरता और जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश देते हैं। इन दोनों को चैतन्य प्राप्त होता है। जन्म का अन्त (आत्महत्या) करने के इरादे से आये हुये वे दोनों युवक, उन उपदेश को सुन कर जन्म परंपरा का ही नाश करने वाली जैन दीक्षा ग्रहण करते हैं। चाण्डाल कुल में उत्पन्न होने पर भी, इन्होंने जैन दीक्षा धारण की और उस प्रयत्न में लगे जिससे पुन जन्म मरण तथा अपमान सहना न पड़े। पूर्व संस्कारों की प्रबलता क्या नहीं करती?

विधि-विधान बड़ा अटल है। कोई कुछ भी माना या किया करे, किन्तु होना वही है जो होनहार होना है। इसमें किसी की मीन मेख नहीं चलती। इस नियम को न कोई तोड़ सका

और न कोई ताड़ सकेगा। योगमार्ग की सुन्दर शिक्षा प्राप्त ये दोनों त्यागी गुरुआज्ञा प्राप्त कर देश विदेश फिरते फिरते तथा अनेक ऋद्धि सिद्धियों की प्राप्ति करते हुये हस्तिनापुर में आते हैं जहां नमुचि प्रधानमंत्री था। नमुचि इन दोनों को देखकर पहिचान लेता है और कहीं ये लोग मेरा भंडाफोड़ (रहस्योद्घाटन) न करदें इस कारण उन दोनों को नगर के बाहर निकलवा देता है। चित्त इस सब कष्ट को शांति तथा अविकार भाव से सह लेता है किन्तु संभूति इस अपमान को सहने में असमर्थ होता है और प्राप्त सिद्धि का उपयोग करने को तैयार होता है। चित्त, संभूति को त्यागी का धर्म समझाता है और क्षमा धारण करने का उपदेश देता है किन्तु संभूति पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। उसके मुंह में से धुंए के बादल के बादल निकलने लगते हैं।

अन्त में इस बात की खबर हस्तिनापुर के राजा (चक्रवर्ती सनत्कुमार) को लगती है। वह स्वयं अपनी सेना तथा परिवार के साथ उस महा तपस्वीराज के दर्शनार्थ आता है। संभूति मुनि उस चक्रवर्ती राजा का वैभव देख कर मोहित हो जाता है।

[illegible]

इसके बाद मर कर ये दोनों जीव अपनी पुरानी तपश्चर्या के कारण देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। वहां पूर्ण आयु भोगने के बाद आसक्ति के कारण इन दोनों का युगल टूट जाता है और उसी से संभूति कंपिला नगरी में चुल्लनी माता के उदर से ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती राजा पैदा होता है। चित्त का जीव स्वर्ग से च्यव कर पुरिमताल नगर में धनपति नगरसेठ के यहां जन्म लेता है और पूर्व पुण्यों के योग से समस्त सांसारिक सुखों से परिवेष्ठित होता है।

एक बार एक सन्त के मुख से एक गम्भीर गाथा सुन कर चित्त का जीव विचार में पड़ जाता है। उस पर विचार करते करते उसे ऐसा भाव होता है कि कहीं उसने यह गाथा सुनी है। उस पर विचार करते करते उन्हें जाति स्मरण (अनेक पूर्व भवों का स्मरण) हो जाता है। उसी समय जगत की असारता का विचार करते हुए वह माता पिता का प्रेम, युवती स्त्रियों के भोग विलास तथा सम्पत्ति का मोह छोड़ कर जैसे सांप कांचली को छोड़ देता है, वैसे ही सांसारिक विषयों को लात मार कर साधु की दीक्षा धारण करता है।

पूर्व भव का संभूति का जीव अब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था। चक्रवर्ती के अनुपम, अप्रतिहत तथा सर्वोत्तम दिव्य सुखों को भोगते हुए भी कभी कभी उसके हृदय में एक अव्यक्त धीमी सी वेदना हुआ करती है। एक समय वह उद्यान में विहार का आनन्द ले रहा था। एकाएक नवपुष्पों का एक गुच्छा देख कर उसे ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा तो मैंने कहीं देखा है। और अनुभव भी किया है। तुरन्त ही उसे जाति स्मरण हुआ और देवगति के साथ साथ उसे अपने पिछले जन्मों के वृतान्त भी मालूम हो गये। चित्त का विरह अब उसे असह्य हो उठा।

भोगों की आसक्ति में अब तक ज़रा सी न्यूनता नहीं आई थी, परन्तु विशुद्ध एवं गाढ़ भ्रातृ प्रेम ने भाई से मिलने की अपार उत्कण्ठा जागृत करदी। उसने उनको ढूंढ निकालने के लिये "आसि दासा मिगा हंसा चांडाला अमरा जहा" यह आधा श्लोक देश देश में ढिंढोरा पिटवा कर उसने प्रसिद्ध करा दिया और घोषणा की कि जो कोई इस श्लोक को पूर्ण करेगा उसे आधा राज्य दिया जायगा।

यह बात देश के कोने कोने में फैल गई। संयोग से चित्र मुनि ग्राम ग्राम विचरते हुए कंपिला नगरी के उद्यान में पधारते हैं। यहां का माली उक्त अर्ध श्लोक गाते हुए वृक्षों में पानी सींच रहा है। मुनि उस अर्ध श्लोक को सुन कर चकित हो जाते हैं। अन्त में उस के द्वारा सर्व वृत्तान्त सुन कर उस अर्ध श्लोक को "इमाणो छट्ठिया जाई अन्न मन्नेण जा विणा" इन दो चरणों द्वारा पूर्ण करते हैं।

माली राज्य मण्डप में आकर भरे दरबार में उस पूर्ण श्लोक को सुनाता है! उसके सुनते ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती माली द्वारा कहे गये वृत्तान्त में अपने भाई का देखते ही मूर्छित हो ज़मीन पर गिर पड़ता है। ऐसी स्थिति में राज पुरुष उस माली को कैद कर लेते हैं। अन्त में माली सारा वृत्तान्त कह सुनाता है और जिसने उस श्लोक को पूर्ण किया था उन योगीराज को दरबार में उपस्थित करता है।

ब्रह्मदत्त अपने भाई का अपार आकस्मिक [illegible] देख कर [illegible] ([illegible]) [illegible] है और उस [illegible] भाई से पूछता है कि [illegible] अनुपम समृद्धि [illegible] भोग रहा हूँ और [illegible] [illegible] [illegible] हो गया। [illegible]

क्षणिक सुख कहां ? और आत्मदर्शन का सुख कहाँ ? इन दोनों की समानता कभी हो ही नहीं सकती।

(२) इस तरह कंपिला नगरी में संभूति उत्पन्न हुआ और (उनका भाई) चित्त पुरिमताल नगर में नगरसेठ के यहाँ पैदा हुआ। (चित्त के अंतःकरण में तो वैराग्य के गाढ़ संस्कार थे इससे) चित्त तो सच्चे धर्म को सुनकर (पूर्वभावों का स्मरण होने से) शीघ्र ही त्यागी हो गया।

टिप्पणी—यद्यपि चित्त का जन्म भी अत्यंत धनाढ्य घर में हुआ था किन्तु अनासक्त होने से वह कामभोगों से शीघ्र ही विरक्त हो गया।

(३) चित्त और संभूति ये दोनों भाई (उपरोक्त निमित्त से) कंपिला नगरी में मिले और वे परस्पर (भोगे हुए) सुख दुःखों के फल तथा कर्मविपाक कहने लगे:—

(४) महाकीर्तिमान तथा महा समृद्धिवान् ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने बड़े भाई को बहुत सम्मान पूर्वक ये वचन कहे:—

(५) हम दोनों भाई परस्पर एक दूसरे के साथ २ हमेशा रहने वाले, एक दूसरे का हित करने वाले और एक दूसरे के अति प्रेमी थे।

टिप्पणी—ब्रह्मदत्त को जाति स्मरण और चित्त को अवधिज्ञान हुआ था। इससे वे अपने अनुभवों का वर्णन कर रहे हैं। अवधिज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें मर्यादा के अन्दर त्रिकाल की बातें ज्ञात हों।

(६) पहिले भव में हम दोनों दशार्ण देश में दास थे। दूसरे भव में कालिंजर पर्वत पर हरिण हुए। तीसरे भव में

अकेला यह जीवात्मा ही सुन्दर या असुन्दर परलोक (परभव) को प्राप्त होता है।

टिप्पणी—यदि शुभ कर्म होंगे तो अच्छी गति होती है और अशुभ कर्मों के योग से अशुभ गति होती है।

(२५) (मृत्यु होने के बाद) चिता में रक्खे हुए उसके असार (चेतना रहित निर्जीव) शरीर को अग्नि में जलाकर कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री आदि (उसको थोड़े से समय में भूल कर) दूसरे दाता (मालिक) का अनुगमन (आज्ञा पालन) करने लगते हैं।

टिप्पणी—इस संसार में सब कोई अपनी स्वार्थ सिद्धि तक ही संबंध रखते हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ कि फिर कोई पास खड़ा नहीं होता। दूसरे की सेवा में लग जाते हैं।

(२६) हे राजन्! मनुष्य की आयु तो थोड़ा सा भी विराम लिये बिना निरंतर क्षय होती रहती है (ज्यों २ दिन अधिक बीतते जाते हैं त्यों २ आयु कम होती जाती है) ज्यों २ वृद्धावस्था आती जाती है त्यों २ यौवन की कान्ति कम होती जाती है। इसलिये हे पांचाल राजेश्वर! इन वचन को सुनो और महारम्भ (हिंसा तथा विषयादि) के क्रूर कार्यों को न करो।

चित्त के एकान्त वैराग्य को उत्पन्न करने वाले
ऐसे सुबोध वाक्यों को सुनकर ब्रह्मदत्त
(संभूति का जीव) बोला—

(२७) हे साधु पुरुष! जो उपदेश आप मुझे दे रहे हैं वह मेरी समझ में तो आ रहा है। ये भोग ही मेरे बन्धन

(आसक्ति) के कारण हैं परन्तु हे आर्य ! हम जैसे दुर्बलों द्वारा उनका जीतना महा कठिन है। (आसक्त पुरुषों से काम भोग छूटना बड़ी कठिन बात है।)

(२८) हे चित्त मुनि ! (इसीलिये) हस्तिनापुर में महासमृद्धिवान् सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर मैं काम भोगों में आसक्त होगया और अशुभ नियाण (थोड़े के लिये अधिक का त्याग) कर डाला।

(२९) वह नियाण (निदान) करने के बाद भी (और तुम्हारे उपदेश देने पर भी) आसक्ति दूर न की, उसी का यह फल मिला है। अब धर्म को जानते हुए भी कामभोगों की आसक्ति मुझ से नहीं छूटती।

टिप्पणी—निदान करने पर भी यदि गम्भीर चिन्तन द्वारा उसका निवारण किया जाय तो पतन न होने पावे।

(३०) जल पीने के लिये गया हुआ (बहुत प्यासा) किन्तु दलदल में फँसा हुआ हाथी (जैसे) किनारे को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता (वैसे ही) काम भोगों में आसक्त हुआ मैं (काम भोग के दुष्ट परिणामों को जानते हुए भी) त्याग मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

(३१) प्रति क्षण काल (आयुष्य) बीत रहा है और रात्रियां जल्दी २ बीतती जाती हैं। (जीवन क्षय हो रहा है)। मनुष्यों के ये भोगविलास भी सदा काल (स्थिर) रहने वाले नहीं हैं जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं; वैसे ही ये कामभोग भी पुण्य न करने से इस पुरुष को भी छोड़ देते हैं।

टिप्पणी—युवावस्था में जो भोगविलास बड़े प्यारे लगते थे, वे ही वृद्धावस्था में नीरस लगते हैं।

(३२) यदि भोगों को सर्वथा छोड़ने में समर्थ न हो तो हे राजन्! दया, प्रेम, परोपकार, आदि आर्यकर्म कर। सर्व प्रजा पर दयालु तथा धर्मपरायण होकर राज्य करेगा तो तू यहां (गृहस्थाश्रम) से चलकर कामरूप धारण करने वाला उत्तम देव होगा। (ऐसा चित्तमुनि ने कहा)

टिप्पणी—गृहस्थाश्रम में भी यथा शक्ति त्याग किया जाय तो उससे देवयोनि मिलती है।

(३३) (भोगासक्त राजा कुछ भी उपदेश ग्रहण न करते से चित्तमुनि निर्वेदता (खिन्नता) अनुभव करते हुए बोले:—) हे राजन्! तुम इस संसार के आरंभ तथा परिग्रहों में खूब आसक्त हो रहे हो। काम भोगों को छोड़ने की तुम्हारी थोड़ी सी भी इच्छा नहीं है तो मेरा सब उपदेश व्यर्थ हो गया ऐसा मैं मानता हूँ। हे राजा! अब मैं आपसे विदा होता हूँ (ऐसा कहकर चित्तमुनि वहां से विहार कर गये)।

(३४) पांचालपति ब्रह्मदत्त ने पवित्र मुनि के हितकारी वचन (उपदेश) न माने और अन्त मे, जैसे उत्तम कामभोग उसने भोगे थे वैसे ही उत्तम (घोरातिघोर सातवें) नरक में वह गया।

टिप्पणी—जैसा करोगे वैसा भोगोगे।

(३५) और चित्तमुनि कामभोगों से विरक्त रहकर, उग्र चारित्र

इषुकारीय

(इषुकार राजा सम्बन्धी)

१४

संगति का जीवन पर गहरा असर पड़ता है। ऋणानुबन्ध गाढ़ परिचय से जागृत होते हैं। सत्संग से जीवन अमृतमय हो जाता है और परस्पर के प्रेम भाव से एक दूसरे के प्रति भावधान रहते हुए साधक साथ साथ रहकर जीवन के अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं।

इस अध्ययन में ऐसे ही छः जीवों का मिलाप हुआ है। देवयोनि में से आये हुए छः पूर्व योगी एक ही इषुकार नगर में उत्पन्न होते हैं। जिन में से चार ब्राह्मण कुल में तथा दो क्षत्रिय कुल में पैदा हुए। ब्राह्मण कुलोत्पन्न दो कुमार योग संस्कारों की प्रबलता से युवावस्था में ही भोग विलासों की आसक्ति से दूर होकर त्याग धारण करने के लिये प्रेरित होते हैं। दो जीव जो इन दोनों के माता पिता हैं वे भी उनके त्याग की उत्कटता देख कर त्याग धारण करने का विचार करते हैं और अन्त में यह सारा ही कुटुम्ब त्यागमार्ग का अनुसरण करता है।

[illegible]र नगर में धन धान्य तथा परिवार आदि के वैभवों

को तोड़ कर एक ही साथ इन चार समर्थ आत्माओं के महाभिनिष्क्रमण से एक अपूर्व जागृति आती है। सारा नगर धन्यवाद की ध्वनियों से गूंज उठता है। इस को सुन कर वहाँ की रानी की भी पूर्वभव की प्रेरणा जागृत होती है और उसका असर यकायक राजा पर भी पड़ता है। इस तरह से छः आत्माएं संयम मार्ग अंगीकार कर कठिन तपश्चरण द्वारा अंतिम ध्येय मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तत्सम्बन्धी पूरा वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

भगवान बोले:—

(१) पूर्वभव में देव होकर एक ही विमान में रहने वाले कुछ (छः) जीव देवलोक के समस्त रम्य, समृद्ध, प्राचीन तथा प्रसिद्ध ऐसे इषुकार नगर में पैदा हुए।

(२) अपने बाकी बचे हुए कर्मों के उदय से वे उच्चकुल में पैदा हुए और पीछे से संसारभय से भयभीत होकर समस्त आसक्तियों को छोड़ कर उनने जिनदीक्षा (संयम धर्म) की शरण ली।

(३) उन छः जीवों में से एक पुरोहित तथा दूसरा जसा नाम की उसकी पत्नी थी और दूसरे दो जीव मनुष्य जन्म पाकर उनके यहां कुमार रूप में अवतीर्ण हुए।

टिप्पणी—इस प्रकार से ४ जीव ब्राह्मण कुल में तथा २ जीव वहां के राजा रानी के रूप में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए।

(४) जन्म, जरा और मृत्यु के भय से डरे हुए और इसी कारण संसार से बाहर जाने के इच्छुक वे दो कुमार संसार चक्र

से छूटने के लिये किसी योगीश्वर को देखकर कामभोगों से विरक्त होगये ।

टिप्पणी—जंगल में कुछ योगिजनों के दर्शन होने के बाद पूर्वयोग का स्मरण हुआ और जन्म, जरा तथा मृत्यु से भरे हुए इस संसार से छूटने के लिये उन्हें आदर्श त्याग की अपेक्षा (इच्छा) जगी।

(५) अपने कर्तव्य में परायण ऐसे उन दोनों ब्राह्मण कुमारों को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ और पूर्वभव में संयम तथा तपश्चर्या का पालन किया था यह बात उन्हें याद आई।

(६) इसलिये वे मनुष्य जीवन में दिव्य माने जाने वाले श्रेष्ठ-काम भोगों में भी आसक्त न हुए और उत्पन्न हुई अपूर्व श्रद्धा से मोक्ष के इच्छुक वे कुमार अपने पिता के पास आकर नम्रतापूर्वक इस प्रकार बोले —

(७) यह जीवन अनित्य है, जिस पर अनेक रोगादि से युक्त तथा अल्प आयुष्य वाला है । इसलिये हमको ऐसे (संसार बढ़ाने वाले) गृहस्थ जीवन में तनिक भी सन्तोष नहीं होता। इसलिये मुनि दीक्षा (त्यागी जीवन) ग्रहण करने के लिये आप से आज्ञा मांगते हैं ।

(८) यह सुनकर दुःखित उनके पिता, उन दोनों मुनि (भावना से चारित्र शाली) ओं के तप (संयमी जीवन) में विघ्न डालने वाला यह वचन बोले:—हे पुत्रो ! वेद के पारंगत पुरुषों ने यों कहा है कि पुत्र रहित पुरुष की उत्तम गति नहीं होती ।

टिप्पणी—अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥

वेद धर्म का यह वाक्य एक खास अपेक्षा से कहा गया है । वेद धर्म में भी अखंड ब्रह्मचर्य धारण करने वाले बहुत से त्यागी महात्मा हुए हैं ।

जैसा कहा भी है—

अनेकानि सहस्राणि कुमारा ब्रह्मचारिणः
स्वर्गं गच्छन्ति राजेन्द्र ! अकृत्वा कुलसंततिम् ।

इन दोनों बालकों ने अभी तक त्यागी का वेश धारण नहीं किया था । यहाँ इनकी वैराग्य भावना की प्रबलता बताने के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया है ।

(९) इसलिये हे पुत्रो ! वेदों का अच्छी तरह अध्ययन करके, ब्राह्मणों को संतुष्ट करके तथा स्त्रियों के साथ भोग भोग कर तथा पुत्रों को घर की व्यवस्था सौंप कर बाद में ही अरण्य में जाकर प्रशस्त संयमी बनना ।

टिप्पणी—इन दिनों, ब्राह्मणों को दान देना तथा वेदों का अध्ययन करना ये दो काम गृहस्थ धर्म के उत्तम अंग माने जाते थे । कुल-धर्म की छाप सब बातों पर रहती है इसीलिये ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम फिर उसके बाद वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने को कहा है । परन्तु स्पष्ट बात तो यह है कि इस परिस्थिति में पिता की पुत्रवत्सलता विशेष स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

(१०) (वह ब्राह्मण) अन्तरात्मा के गुण (राग) रूपी ईंधन से तथा मोह रूपी वायु से अधिक प्रज्वलित तथा पुत्र वियोग जन्य शोक रूपी अग्नि से तप्त अन्तःकरण से इस प्रकार दीन

वचन (कि हे पुत्रो ! त्यागी न बनो आदि उद्विग्न वचन) पुनः २ कहने लगा ।

(११) और पुत्रों को तरह २ के प्रलोभन देकर तथा अपने पुत्रों को क्रमशः धनोपार्जन तथा उसके द्वारा विविध भोगोपभोग अन्य सुखों का अनुभव करने का उपदेश देते हुए उस पुरोहित (पिता) को वे दोनों कुमार विचार पूर्वक ये वचन बोले—

(१२) हे पिताजी ! मात्र वेदाध्ययन से इस जीव को शरण नहीं मिलती । जिमाये हुए ब्राह्मण, अंधकार (आत्मभान) में थोड़े ही ले जाते हैं ? उसी तरह उत्पन्न हुए पुत्र भी (कृत पापों के फल भोगने में) शरणभूत नहीं हो सकते । तो आपके कथन को कौन मानेगा ?

टिप्पणी—अपने धर्म को भूल कर केवल ब्राह्मणों को जिमाने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है किन्तु अज्ञान और बढ़ता है। मात्र वेदाध्ययन से ही कहीं स्वर्ग नहीं मिल सकता। स्वर्ग या मुक्ति की प्राप्ति तो धारण किये साथ धर्म द्वारा ही हो सकती है।

(१३) और कामभोग तो केवल क्षणमात्र ही सुख तथा बहुत काल पर्यंत दुःख देने वाले हैं। जिस वस्तु में दुःख विशेष हो वह सुख कैसे दे सकता है। अर्थात् ये कामभोग केवल अनर्थ परंपरा की खान तथा मुक्ति मार्ग के शत्रु समान हैं।

(१४) विषयसुखों के लिये जहां तहां घूमता हुआ यह जीव कामभोगों में विरक्त न होकर हमेशा रातदिन जलता रहता है। कामभोगों में आसक्त बना हुआ (दूसरों के

लिये दूषित प्रवृत्ति करनेवाला) पुरुष धनादि साधनों को ढूँढ़ते ढूँढ़ते अन्त में बुढ़ापे से घिरकर मृत्युशरण होता है।

टिप्पणी—आसक्ति ही आत्मा को सच्चा मार्ग भुला कर संसार में भटकाती है। आसक्त मनुष्य असत्य मार्ग में अपनी तमाम जिंदगी बर्बाद कर डालता है और अन्त में अपूर्ण वासनाओं के साथ मरता है।

(१५) यह (सोना, घरबार आदि) मेरा है और यह मेरा नहीं है; मैंने यह व्यापार किया, अमुक नहीं किया—इस प्रकार बड़बड़ाते हुए प्राणी की रात्रि तथा दिवस रूपी चोर (आयु की) चोरी कर रहे हैं। इसलिये प्रमाद क्यों करना चाहिये ?

टिप्पणी—ममत्व के दूषित वातावरण में तो प्राणिमात्र जीव सड़ रहे हैं। अपनी प्रिय वस्तु पर आसक्ति तथा अप्रिय वस्तु पर द्वेष करना यह जगत का स्वभाव है। केवल समझदार मनुष्य ही ऐसी दशा में जागृत रह सकता है और जो घड़ी निकल गई वह अब कभी लौट कर नहीं आवेगी ऐसा मान कर अपने आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होता है।

(१६) (पिता कहता है:—) जिसके लिये सारा संसार (सब प्राणीमात्र) महान् तपश्चर्या (भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी आदि सहन) कर रहे हैं वे अक्षय धन, स्त्रियां, कुटुंब तथा कामभोग तुमको अनायास ही भरपूर प्रमाण में मिले हैं।

टिप्पणी—पिता (पुरोहित) इन वचनों से यही बताना चाहता है कि संयम का हेतु सुख प्राप्ति है और वह सुख तुमको स्वयं प्राप्त है तो

टिप्पणी—सांप अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई कांचली को छोड़कर फिर ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है उसी तरह साधकों को आसक्ति रूपी कांचली छोड़ देनी ही उचित है।

(३५) (उसी समय विचार में पड़ गई कि अब ये सब) जैसे रोहित मत्स्य जीर्ण जाल को तोड़कर उससे निकल भागते हैं उसी तरह ये कामभोग रूपी जाल से छूटे जा रहे हैं और जैसे जातिमान् वृषभ (बैल) रथ के भार को अपने कंधे पर उठाता है वैसे ही ये धीर चारित्र्य तथा तपश्चर्या के भार को उठाकर सचमुच ही त्यागमार्ग पर जा रहे हैं।

(३६) फैली हुई जाल को तोड़कर जैसे पक्षी दूर २ आकाश में स्वच्छन्द विचरते हैं वैसे ही भोगों की जाल तोड़कर मेरे दोनों पुत्र तथा पति त्यागधर्म अंगीकार कर रहे हैं तो मैं उनका अनुसरण क्यों न करूं ?

इस तरह ये चारों समर्थ आत्मायें थोड़े ही समय में अनेक प्रकार के धनधान्य, कुटुंब-परिवार, दासी-दास, आदि को निरासक्त भाव से छोड़कर त्यागधर्म धारण करती हैं और अब उनकी संपत्ति का कोई वारिस न होने से वह सब राजदरबार में लायी जाती है।

(३७) विशाल तथा कुलीन कुटुंब, धन और भोगों को छोड़कर दोनों पुत्र तथा पत्नी सहित भृगु पुरोहित का अभिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण) सुनकर और उसके द्वारा छोड़ा

गया वैभव राजा को लेते देखकर राजमहिषी कमलावती (राजा के प्रति) पुनः २ यों कहने लगी:—

(३८) हे राजन् ! जो पुरुष किसी के उल्टी किये हुए भोजन को खाता है उसे कोई अच्छा नहीं कहता। वैसे ही इस ब्राह्मण द्वारा उगला हुआ धन आप ग्रहण करना चाहते हो यह किसी भी प्रकार योग्य नहीं है।

(३९) हे राजन् ! यदि कोई तुम को सारा जगत या जगत का सारा धन दे दे तो भी वह आपके लिये पूर्ण न होगा (तृष्णा का पार कभी आता ही नहीं) तथा हे राजन् ! और यह धन आपको कभी भी शरण रूप नहीं होगा।

(४०) हे राजन् जब कभी इन सब मनोहर कामभोगों को छोड़ कर आप मृत्यु वश होंगे उस समय यह सब आपको शरण रूप न होगा। हे राजन् ! उस समय तो आपका कमाया हुआ धर्म ही आपको शरणभूत होगा। इसके सिवाय दूसरा कुछ भी (धनादि) काम न आयगा।

टिप्पणी—रानी के ये वचन उनके गहरे हृदयवैराग्य के द्योतक हैं। महाराजा ने परीक्षा के लिये पूछा—यदि इतना समझती हो तो अब भी गृहस्थाश्रम में क्यों रहती हो ?"

(४१) जैसे पिंजड़े में पक्षिणी आनन्द नहीं पा सकती वैसे ही (राज्यसुख से परिपूर्ण इस अन्तःपुर में) मुझे आनन्द नहीं मिलता है। इसलिये मैं स्नेह रूपी तन्तु को तोड़कर तथा आरंभ (सूक्ष्म हिंसादि क्रिया) और परिग्रह (संग्रह वृत्ति) के दोष से निवृत्त, अकिंचन, निरासक्त तथा सरलभावी बनकर संयम मार्ग में गमन करूंगी।

(४२) जैसे जंगल में दावाग्नि लगने से और उसमें वन जन्तुओं को जलते देखकर दूर के प्राणी रागद्वेष वश क्षणिक आनन्द प्राप्त करते हैं (कि हम तो बचे हैं) परन्तु उन भोले प्राणियों को यह खबर नहीं कि कुछ ही देर में हमारी भी यही दशा होने वाली है।

(४३) इसी तरह कामभोगों में आसक्त बने हुए हम राग तथा द्वेष रूपी अग्नि से जलते हुए सारे जगत को मूढ़ की तरह जान नहीं सकते हैं। (अर्थात् रागद्वेषरूपी अग्नि सभी को भक्षण करती चली आ रही है तो वह हमें भी भक्षण कर जायगी)

(४४) जिस तरह अप्रतिबंध पक्षी आनन्द के साथ स्वच्छन्द आकाश में विचरता है वैसे ही हमें भी भोगे हुए भोगों को स्वेच्छा से छोड़कर तथा आनन्द के साथ संयम धारण कर, ग्राम नगर आदि सभी स्थानों में निराबाध विचरना चाहिये।

(४५) हमें प्राप्त हुए ये कामभोग कभी स्थिर नहीं रहनेवाले हैं (कभी न कभी ये हमें छोड़ देंगे) तो फिर हम ही इन चारों ब्राह्मणों की तरह इन्हे क्यों न छोड़ दें?

(४६) जैसे गिद्ध को मांस सहित देखकर अन्य पक्षी उससे छीन लेने के लिये उसको त्रास देते हैं, किन्तु मांस रहित पक्षी को कोई त्रास नहीं देता वैसे ही परिग्रह रूपी मांस को छोड़कर मैं निरामिष (निरासक्त) होकर विचरूंगी।

(४७) ऊपर कही हुई गिद्ध की उपमा को बराबर समझ कर और कामभोग संसार को बढ़ाने वाले हैं ऐसा समझ कर

(५१) इस तरह उक्त क्रम में ये छहों जीव जरा (बुढ़ापा) तथा मृत्यु के भय से खिन्न होकर धर्मपरायण बने और दुःखों के अंत (मोक्ष) की शोधकर वे क्रमपूर्वक बुद्ध (केवल ज्ञानी) हुए।

(५२) वीतराग (जीत लिया है मोह जिसने ऐसे) जिनेश्वर के शासन में पूर्व भव में भाई हुई भावनाओं का स्मरण करके वे छहों जीव दुःखों के अन्त (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

(५३) देवी कमलावती, राजा, पुरोहित ब्राह्मण (भृगु), उसकी पत्नी जसा ब्राह्मणी, उसके दोनों पुत्र इस तरह ये छहों जीव मुक्ति को प्राप्त हुए। सुधर्म स्वामी ने जंबूस्वामी को कहाः—'ऐसा भगवान् ने कहा था' इस प्रकार इषुकारीय नामक चौदहवां अध्ययन समाप्त हुआ।

कर, सरलस्वभाव धारण कर, चारित्र धर्म में चले एवं जो कामभोगों की इच्छा न करे और पूर्वाश्रमों के संबंधियों की आसक्ति को छोड़ दे; (तथा) अज्ञात (अपरिचित) घरों में ही भिक्षाचरी करके आनन्दपूर्वक संयमधर्म में गमन करे वही साधु है।

टिप्पणी:—अज्ञात अर्थात् 'आज हमारे यहां साधुजी पधारने वाले हैं इसलिए भोजन कर रक्खें'—ऐसा न जानने वाले घर।

(२) उत्तम भिक्षु; राग से निवृत्त होकर, पतन से अपनी आत्मा को बचा कर, असंयम से दूर होकर, परिषहों को सहन कर और समस्त जीवों को आत्म तुल्य जानकर किसी भी वस्तु में मूर्छित (मोहित) न हो, वही साधु है।

(३) यदि कोई उसे कठोर वचन कहे या मारे तो उसे अपने पूर्व संचित कर्मों का फल जानकर धैर्य धारण करनेवाला, प्रशस्त (ऊँचे लक्ष्यवाला), आत्मा को हमेशा गुप्त (वश) में रखनेवाला और अपने चित्त को अव्याकुल रख हर्ष शोक से रहित होकर संयम के पालन में आने वाले कष्टों को सह लेता है वही साधु है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या और आसन से सन्तुष्ट रहता है; शीत, उष्ण, दंशनाशक, आदि के कष्टों को जो समभाव से सहन करता है वही साधु है।

(५) जो सत्कार या पूजा की लालसा नहीं रखता है, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुण की प्रशंसा करे तो भी अभिमान भाव मन में नहीं लाता ऐसा संयमी,

सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान, क्रियावान, तथा आत्मदर्शन का जो शोधक है वही सच्चा साधु है।

(६) जिन कार्यों से संयमी जीवन को क्षति हो ऐसे काम न करने वाला, समस्त प्रकार के भेदों को दबाने वाला तथा नरनारी के मोह को बढ़ाने वाले संग को छोड़ तपस्वी होकर विचरने वाला तथा तमाशा जैसी वस्तुओं में रस न लेने वाला ही सच्चा साधु है।

टिप्पणी—इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो नरनारी (स्वजन समूह अथवा कुटुम्ब कबीला) का (पूर्व परिचय होने से) मोह उत्पन्न हो और संयमी जीवन दूषित हो ऐसा संग छोड़ कर तपस्वी बनकर विहार करने वाला और तमाशों में रस न लेने वाला ही साधु है।

(७) नख, वस्त्र, तथा दाँत आदि छेदने की क्रिया, राग (स्वर भेद) विद्या, सम्बन्धी भू ((पृथ्वी) विद्या, खगोल विद्या (आकाशीय ग्रह नक्षत्र सम्बन्धी विद्या), स्वप्न विद्या (स्वप्नफलादेश), सामुद्र (शारीरिक लक्षणों द्वारा सुख दुःख बताना) शास्त्र, अंगस्फुरण विद्या (अमुक अंग के फड़कने से अमुक फल होता है, जैसे दाहिनी आँख का फड़कना शुभ और बाईं आँख का अशुभ माना जाता है), दंड विद्या, पृथ्वी में गड़े हुए धन को जानने की विद्या, पशु-पक्षियों की बोली का जानना आदि कुत्सित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता (अपना स्वार्थ साधन नहीं करता) वही साधु है।

(८) मंत्र, जड़ीबूटी तथा जुदी २ तरह के वैद्यक उपचारों को

के विरुद्ध कार्य करने का मौका आ पड़ता है इसलिये साधु को ऐहिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये गृहस्थों का परिचय नहीं बढ़ाना चाहिये। मुनि का उसके साथ केवल पारमार्थिक संबन्ध ही होना चाहिये।

(११) आवश्यक शय्या (घास फूँस या पुँआल की सोने की जगह), पाट, पाटला, आहार पानी अथवा अन्य कोई खाद्य पदार्थ किंवा मुख सुगन्ध के पदार्थ की याचना मुनि; गृहस्थ से भी न करे और यदि मांगने पर भी वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न बोले और न मन में बुरा ही माने। जो ऐसी वृत्ति रखता है वही सच्चा साधु है।

टिप्पणी—त्यागी को मान और अपमान दोनों समान हैं।

(१२) जो अनेक प्रकार के भोजन पान, (अचित्त) मेवा अथवा मुखवास आदि गृहस्थों से प्राप्त कर संघ के साथी साधुओं को बांटकर पीछे भोजन करता है और जो मन, वचन और काय को वश में रखता है उसी को साधु कहते हैं।

टिप्पणी—यहाँ "तिविहेण संवुडे" अर्थात्, मन, वचन, काया से भिक्षु धर्म द्वारा [illegible] किये हुए [illegible] किसी को कुछ न देवे। [illegible] भिक्षु धर्म के [illegible]

([illegible]) [illegible] गृहस्थ का [illegible] नहीं [illegible]

तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है।

टिप्पणी—भिक्षु, संयमी जीवन निर्वाह के उद्देश्य से भोजन ग्रहण करता है। जिह्वा की लोलुपता को शांत करने के लिये स्वाद तथा स्वादिष्ट भोजन की इच्छा कर धनिक दाता के यहाँ भिक्षार्थ जाना–साधुत्व की त्रुटि कहनी चाहिये।

(१४) इस श्लोक में देव, पशु अथवा मनुष्यों के अनेक प्रकार के अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं। उनको सुनकर जो नहीं डरता (विकार को प्राप्त नहीं होता) वही साधु है।

टिप्पणी—पहिले जमाने में साधु विशेष करके जंगलों में रहा करते थे और तब ऐसी परिस्थिति होने की विशेष संभावना थी।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न २ प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझकर, अपने आत्म धर्म को स्थिर रख कर संयम में दत्त चित्त पंडित पुरुष; सब परिषहों को जीत कर, समस्त जीवों पर आत्म भाव रख कर कषायों को वश में रक्खे और किसी जीव को जरा भी पीड़ा न पहुंचावे। ऐसी वृत्ति से जो विचरता है वही साधु है।

टिप्पणी—जितने माथे उतनी सूझें होती हैं। सबकी रायें जुदी २ होती हैं। इसी कारण भिन्न २ धर्मों तथा पंथों का प्रचार हुआ है। परन्तु वास्तविक धर्म (सत्य) के कोई विभाग नहीं हो सकते। वह तो सर्वकाल में और सब जगह समान ही होता है।

(१६) जो शिल्पविद्या (कारीगरी) द्वारा अपना जीवन निर्वाह

न करता हो, जितेन्द्रिय (इन्द्रियों को जीतने वाला), आन्तरिक तथा बाह्य बंधनों से मुक्त, अल्प कषायवाला, थोड़ा तथा परिमित भोजन करने वाला तथा घर को छोड़कर जो रागद्वेष रहित हो विचरता है वही साधु है।

टिप्पणी—वेश परिवर्तन साधुता नहीं है किन्तु साधु का बाह्य चिन्ह है। साधुता; अक्रोध, अवैर, अनासक्ति और अनुपमता में है सब कोई ऐसी साधुता को धारण कर स्वपर् कल्याण की साधना करें।

ऐसा मैं कहता हूँ।

इस प्रकार 'स भिक्खू' नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्यः—स्त्री, पशु या नपुंसक सहित आसन शय्या, या स्थान का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य पालन करने में शंका (ब्रह्मचर्य पालूं कि न पालूं) उत्पन्न हो सकती है अथवा दूसरों को शंका हो सकती है कि स्त्री सहित स्थान में रहता है तो यह ब्रह्मचारी है या नहीं ? (२) आकांक्षा (इच्छा) निमित्त पाकर मैथुनेच्छा जागृत होने की संभावना है। (३) विचिकित्सा (ब्रह्मचर्य के फल में संशय)—उक्त प्राणियों के साथ रहने से 'ब्रह्मचर्य पालने से क्या लाभ ?' ऐसी भावना होने की संभावना है। कभी २ ऐसे दुर्विचार होने से और एकान्त स्थान मिलने से पतन होने का विशेष भय रहता है और मैथुनेच्छा से उन्मत्त होने का डर है। ऐसे विचारों या दुष्कार्य से परिणाम में दीर्घकाल तक टिकने वाला शारीरिक रोग हो जाने का डर है और इस तरह क्रमशः पतित होने से ज्ञानी द्वारा बताये हुए सद्धर्म से च्युत होजाने का डर है। इस प्रकार विषयेच्छा अनर्थ की खान है और उसके निमित्त स्त्री, पशु अथवा नपुंसक हैं। इसलिये ये जहां रहते हों ऐसे स्थानों में निर्ग्रंथ साधु न रहे।

(२) जो स्त्री कथा (शृंगाररसोत्पादक वार्तालाप) नहीं करता उसे साधु कहते हैं।"

शिष्य — क्यों, भगवन् ?'

आचार्य — स्त्रियों की शृंगारवर्द्धक कथाएं कहने में

उपर्युक्त सभी हानियां होने का डर है। इसलिये ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री संबंधी कथा न कहनी चाहिये।"

टिप्पणी—शृंगार रस की कथायें कहने से पतन का डर है। अतः उन्हें तो त्याग ही देना चाहिये। साथ ही साथ साधु को कभी भी अकेली स्त्री से एकान्त में वार्तालाप करने का प्रसंग न आने देना चाहिये।

(३) जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता वह आदर्श साधु है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन्'?

आचार्यः—"स्त्रियों के साथ एक आसन पर पास पास बैठने से एक दूसरे के प्रति मोहित होने का तथा ऐसे स्थान में दोनों के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त दूषण लगने का डर है। इसलिये ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये।

टिप्पणी—जैनशास्त्र तो जिस स्थान पर अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) पहिले कोई स्त्री बैठी हो उस स्थान पर भी ब्रह्मचारी को बैठने का निषेध करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मचारिणी को स्त्रियों से सावधानी रखनी चाहिये वैसे ही ब्रह्मचारी को पुरुषों से भी सावधानी रखनी चाहिये। खासकरके ऐसे प्रसंग एकान्त के कारण आते हैं। फिर भी यदि कोई आकस्मिक ऐसा प्रसंग आ पड़े तो वहां विवेक पूर्वक आचरण करना उचित है।

(४) स्त्रियों की सुन्दर, मनोहर तथा आकर्षक इन्द्रियों को विषय बुद्धि से न देखे (कैसी सुन्दर हैं, कैसी भोग योग्य हैं? ऐसा विचार न करे) और न उनका चिंतवन ही करे। जो स्त्रियों का चिंतवन नहीं करता वही साधु है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्यः—"सचमुच ही स्त्रियों की मनोहर आकर्षक इन्द्रियों को देखने वाले या चिंतन करने ब्रह्मचारी (साधु) के ब्रह्मचर्य में शंका, आकां अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होने की संभावना रहती जिससे ब्रह्मचर्य के खंडित होजाने, उन्माद होजाने अन्त में दीर्घकालिक रोग पैदा होजाने का डर है। इ सिवाय केवली भगवान् द्वारा कथित धर्म से पतन हो की संभावना है। इसलिये सच्चे ब्रह्मचारी साधक स्त्रियों के मनोहर तथा आकर्षक अंगोपांगों को वि बुद्धि से न देखना चाहिये और न उनका चिंतन करना चाहिये।"

(५) कपड़े के पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से आते हुए स्त्रि के कूजन (कोयलों का सा मीठा स्वर), (शब्द), रु गायन, हँसने का शब्द, स्नेही शब्द, क्रंदित शब्द व पति विरह से उत्पन्न विलाप के शब्दों को जो नहीं सुन है वही आदर्श ब्रह्मचारी या साधु है।

शिष्य.—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्यः—"पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से आ हुए स्त्रियों के कूजन, रुदन, गायन, हास्य शब्द, स्तनि (रति प्रसग के सीत्कार आदि) आनंद अथवा विला मय शब्दों के सुनने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में क्ष पहुँचती है अथवा उन्माद होने की संभावना है। जिससे क्रमशः शरीर में रोग उत्पन्न होकर भगवान द्वारा कथित

संभावना है। इसलिये ब्रह्मचारी (साधु) को स्वादिष्ट अथवा पुष्टिकर भोजन न खाने चाहिये।"

टिप्पणी—स्वादिष्ट भोजन में चरपरा (तीखा), नमकीन, मेवा आदि रसनेन्द्रिय की लोलुपता की दृष्टि से किये हुए बहुत से भोजनों का समावेश होता है। रसनेन्द्रिय की असंयतता ब्रह्मचर्य खंडन का सब से प्रथम तथा प्रबल कारण है और उसके संयम से ही ब्रह्मचर्य का रक्षण होता है।

(८) जो मर्यादा के उपरान्त अति आहार पानी (भोजन पान) नहीं करता वही साधु है।

शिष्य:—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्य:—"अति भोजन करने से उपर्युक्त सभी दूषण लगने का डर है जिससे ब्रह्मचर्य के खंडन तथा संयमधर्म से पतन होजाना संभव है। इसलिये ब्रह्मचारी को अति भोजन पान न करना चाहिये।

टिप्पणी—अति भोजन करने से अंग में आलस्य आता है, दुष्ट भावनाएं जागृत होती हैं और इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्य मार्ग में विघ्नबाधाएं आती जाती हैं।

(९) जो शरीर विभूषा (शृंगार के निमित्त शरीर की टापटीप) करता हो वह साधु नहीं है।

शिष्य:—'क्यों, भगवन्' ?

आचार्य:—"सचमुच ही सौन्दर्य में भूला हुआ और शरीर की टापटीप करने वाला ब्रह्मचारी स्त्रियों को आकर्षक होता है और इससे उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा होने की संभावना रहती है। जिसके परि-

ज्ञान स्वरूप ब्रह्मचर्य खंडित होजाने का डर है। इसलिये ब्रह्मचर्य को विभूषानुरागी न होना चाहिये"।

टिप्पणी—सौन्दर्य की आसक्ति अथवा शरीर की टापटीप करने से विषय-वासना जागृत होने की संभावना है। सादगी और संयम ये ही ब्रह्मचर्य के पोषक हैं।

(१०) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त नहीं होता है वही साधु (ब्रह्मचारी) है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्यः—"स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द आदि विषयों में आसक्त ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त क्षतियां (शंका, कांक्षा, विचिकित्सा) होने की संभावना है जिससे क्रम से संयमधर्म से पतन. आदि सभी दूषण लग सकते हैं। इसलिये स्पर्शादि पंचेन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त नहीं होता है वही साधु (ब्रह्मचारी) है।

इस तरह ब्रह्मचर्य के १० समाधि स्थान पूर्ण हुए। अब तत्संबंधी श्लोक कहते हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

भगवान बोले —

(१) (आदर्श) ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित ऐसे आत्म चिंतन के योग्य एकान्त स्थान का ही सेवन करना चाहिये।

(२) ब्रह्मचर्य में अनुरक्त हुए भिक्षुको; मन को क्षुब्ध करनेवाली तथा विषयों की आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री कथा (कहना) छोड़ देनी चाहिये।

(३) पुनः पुनः स्त्रियों की शृंगारवर्द्धक कथा कहने (अथवा बारंबार स्त्रियों के साथ कथावार्ता के प्रसंग लाने) अथवा स्त्रियों के साथ अति परिचय करने से ब्रह्मचर्य खंडित होता है। इसलिये ब्रह्मचर्य के प्रेमी साधु को इस प्रकार के संगों का त्याग कर देना चाहिये।

(४) ब्रह्मचर्य के अनुरागी साधु को स्त्रियों के मनोहर अंग उपांगों को इरादा-पूर्वक बारंबार नहीं देखना चाहिये और उन्हें स्त्रियों के कटाक्ष अथवा उनके मधुर वचनों पर आसक्त न होना चाहिये।

(५) स्त्रियों के कोयल जैसे मधुर शब्द, रुदन, गीत, हास्य, प्रेमी के विरहजन्य क्रंदन (विलाप) अथवा रतिसमय के सीत्कार या शृंगारिक बातचीत को उसे ध्यानपूर्वक न सुनना चाहिये। यह सब कर्णेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति है। ब्रह्मचर्य के प्रेमी साधक को उन्हें त्याग देना चाहिये।

(६) गृहस्थाश्रम (असंयमी जीवन) में स्त्री के साथ जो हास्य, क्रीड़ा, रतिक्रीड़ा, विषय सेवन, शृङ्गार रसोत्पादि मानदशा, बलात्कार, अभिसार, इच्छा विरुद्ध काम सेवन आदि पूर्व में जो २ विषय के सुखसेवन किये थे उनका भी ब्रह्मचारी को पुनः २ स्मरण नहीं करना चाहिये।

टिप्पणी—पूर्व में भोगे हुए विषयों को स्मरण करने से विषयवासना तथा कुसंकल्प पैदा होते हैं जो ब्रह्मचर्य के लिये महा हानिकर हैं।

(७) ब्रह्मचर्यानुरक्त भिक्षु को विषयवर्द्धक पुष्टिकारक भोजनों का त्याग कर देना चाहिये।

(८) भिक्षु, संयमी जीवन निभाने के लिये ही भिक्षुधर्म के

रक्षा करते हुए प्राप्त भिक्षा को भी भिक्षा ही के समय परिमाणपूर्वक ग्रहण करे। ब्रह्मचर्य के उपासक एवं तपस्वी भिक्षुओं को भी अधिक भोजन न करना चाहिये।

टिप्पणी—भिक्षुओं का भोजन संयमी जीवन निभाने के लिये ही होना चाहिये। अति भोजन आलस्यादि दोषों को बढ़ाकर ब्रह्मचर्य (संयमी) जीवन से पतित कर देता है।

(९) ब्रह्मचर्यानुरक्त भिक्षु को शरीररचना (शरीरशृङ्गार) छोड़ देना चाहिये। शृङ्गार की वृद्धि के लिये वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु धारण न करे।

टिप्पणी—नख या केश संवारना अथवा शरीर की अनावश्यक टीपटाप करना, उसके लिये सतत लक्ष्य रखना, आदि सभी बातें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से अनावश्यक हैं, इतना ही नहीं परन्तु वे शरीर की आसक्ति को अत्यधिक बढ़ा देती हैं जिससे संयमी को अपने साधुत्व से गिर जाने की संभावना रहती है।

(१०) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द इन पंचेंद्रियों के विषयों की लोलुपता का त्याग कर देना चाहिये।

टिप्पणी—आसक्ति, यही दुःख है, यही बंधन है। यह बंधन जिन २ वस्तुओं से पैदा हो उन सबका त्याग कर देना चाहिये। पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखकर उनसे योग्य कार्य लेना चाहिये यही साधक के लिये आवश्यक है। शरीर से सत्कर्म करना, जीभ से मीठे शब्द और सत्य बोलना, कान से सत्पुरुषों के वचनामृतों का पान करना, आंखों से सद्ग्रंथों का वाचन करना, मन से आत्म-चिंतन करना-यही इन्द्रियों का संयम है।

११) सारांश यह है कि (१) स्त्रीजनों से युक्त स्थान, (२)

नित्य है। इस धर्म को धारण कर अनेक जीवात्माएं मोक्ष को प्राप्त हुई हैं, प्राप्त हो रही हैं और प्राप्त होंगी ऐसा तीर्थंकर ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

टिप्पणीः—आदर्श ब्रह्मचर्य यद्यपि सब किसी को सुलभ नहीं है किन्तु वह आकाश कुसुमवत् असाध्य भी नहीं है। ब्रह्मचर्य मुमुक्षु के लिये तो जीवनधन है। तत्त्वशोधक के लिये वह मार्ग दीपक है और आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी है। इसलिये मन, वचन और काय से यथा शक्य (शक्ति के अनुसार) ब्रह्मचर्य का आराधन करना, ब्रह्मचर्य की प्रीति को बढ़ाते रहना, तथा ब्रह्मचर्य रक्षण के लिये उपर्युक्त दस नियमों पर चलना यही उचित है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस तरह "ब्रह्मचर्य समाधि (रक्षण) के स्थान" नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पाप श्रमणीय

पापी साधु का अध्ययन

१७

संयम लेने के बाद उसको निभाने में ही साधुता है यदि त्यागी जीवन में भी आसक्ति अथवा अहंका जागृत हो तो त्याग की इमारत डगमगाये बिना न रहे। ऐसे श्रमण, त्यागी नहीं हैं किन्तु उनकी गणना पापी श्रमणों की जाती है।

भगवान बोले—

(१) त्याग धर्म को सुनकर तथा कर्तव्य परायण होकर कोई दीक्षित हो वह दुर्लभ बोधिलाभ करके फिर सु पूर्वक चारित्र का पालन करे।

टिप्पणी—बोधिलाभ अर्थात् आत्मभान की प्राप्ति। आत्मभान की प्रा के बाद ही चारित्र मार्ग में विशेष दृढ़ता आती है। चारित्रमार्ग दृढ़ होना ही दीक्षा का उद्देश्य है। खाना, पीना, मजा करना वा त्याग का उद्देश्य नहीं है।

(२) संयम लेने के बाद कोई कोई साधु ऐसा मानते हैं कि

उपाश्रय सुन्दर मिला है पहिरने के लिये वस्त्र मिले हैं, खाने के लिये मालपानी भी उत्तम ही मिल जाया करते हैं तथा जीवादिक पदार्थों को तो मैं जानता ही हूँ तो फिर अब (अपने गुरु के प्रति) हे आयुष्मन्! हे पूज्य! कहने को तथा शास्त्र पढ़ने की क्या जरूरत है?

टिप्पणीः—ऐसी विचारणा केवल प्रमाद की सूचक है। संयमी को हमेशा मनन पूर्वक शास्त्राध्ययन करते रहना चाहिये।

(३) जो संयमी बहुत सोने की आदत डालते हैं अथवा आहार पानी कर (खा पीकर) बाद में जो बहुत देर सोते रहते हैं वे पापी श्रमण हैं।

टिप्पणी—संयमी के लिये दिनचर्या तथा रात्रिचर्या के भिन्न २ कार्य निर्दिष्ट हैं तदनुसार क्रमपूर्वक सभी कार्य करने चाहिए।

(४) विनय मार्ग (संयम मार्ग) तथा ज्ञान की जिन आचार्य तथा उपाध्याय द्वारा प्राप्ति हुई है उन गुरुओं का जो ज्ञान प्राप्ति के बाद निन्दा करता है अथवा उनका तिरस्कार करता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

(५) जो अहंकारी होकर आचार्य, उपाध्याय तथा अन्य संगी साधुओं की सद्भाव पूर्वक सेवा नहीं करता है, उपकार को भूल जाता है अथवा पूज्यजनों की पूजा सन्मान नहीं करता वह पापी श्रमण कहलाता है।

(६) जो त्रस जीवों को, वनस्पति अथवा सूक्ष्म जीवों को दुःख देता है; उनकी हिंसा करता है वह असंयमी है फिर भी वह अपने को संयमी माने तो वह पापी श्रमण कहलाता है।

६-६ महीने में एक संप्रदाय छोड़ कर दूसरे संप्रदाय में मिलता फिरता है तथा निंद्यचरित्र होता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी—सम्प्रदाय अर्थात् गुरुकुल। साधक जिस गुरुकुल में रह अपनी साधना करता हो उसे किसी खास कारण के बिना छोड़ कर दूसरे संघमें मिलने वाला स्वच्छंदी साधु अन्तमें पतित हो जाता है।

(१८) अपना घर (गृहस्थाश्रम) छोड़कर संयमी हुआ है फिर भी रसलोलुपी अथवा भोगी बनकर पर (गृहस्थों के) घरों में फिरा करता है तथा ज्योतिष आदि विद्याओं द्वारा अपना जीवन चलाता है (ऐसा करना साधुत्व के विरुद्ध है) ऐसा साधु पापी श्रमण कहलाता है।

(१९) भिक्षु होने के बाद तो उसे 'वसुधैव कुटुंबकम्' होना चाहिये, फिर भी सामुदानिक (सब कुलों की) भिक्षा का ग्रहण न कर केवल अपनी जाति वाले घरों में ही भिक्षा ग्रहण करता है तथा कारण सिवाय गृहस्थ के यहां बारबार बैठता है वह पापी श्रमण कहलाता है

टिप्पणी — जिस कुल में अभक्ष्य (मांसादि) आहार होता हो तथा मांस आचार विचार हो उस को अग्राह्य मानकर अन्यकुलों में भिक्षा ग्रहण करना — ऐसा जैन शास्त्रों ने जैन साधुओं को छूट दी है। गृहस्थ के यहां बूढ़े रोगी या तपस्वी साधु हो कारण बैठा जा सकता है इसके सिवाय अन्य कारण से नहीं, क्योंकि गृहस्थ के साथ अति परिचय करने से पतन तथा एक ही जगह का लिप्त बन्धन (आसक्ति) हो जाने की सम्भावना है।

(२०) अहंकारी (दंभिन, रसलोलुपी, स्वच्छंदी, आसक्त और

कुशील) पांच प्रकार के कुशील के लक्षणों सहित (दुराचारी) तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच गुणों से रहित. कुशील, केवल त्यागी का वेश-धारी ऐसा पापीश्रमण, इस लोक में विष की तरह निंद-नीय बनता है और इस लोक तथा परलोक दोनों में कभी सुखी नहीं होता।

(२१) ऊपर के सब दोषों से जो सदा काल बचता है तथा मुनि-संघ में सच्चा सदाचारी होता है वही इस लोक में अमृत की तरह पूज्य बनता है। तथा ऐसा ही साधु इस लोक तथा परलोक दोनों को सिद्ध करता है।

टिप्पणी:—संयम लेने के बाद पदस्थ सम्बन्धी जवाबदारी बढ़ जाती है। चलने फिरने में, खाने पीने में, उपयोगी साधन रखने में, विद्या प्राप्ति में, गुरुकुल के विनयनियम पालन में, अथवा अपना कर्तव्य समझने में, यदि थोड़ी सी भी भूल होती है तो उतने ही अंश में संयम दूषित होता है। अप्रमत्तता तथा विवेक को प्रति-क्षण सामने रखकर क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, मोह, असूया, ईर्ष्या आदि आत्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते करते आगे २ बढ़ता जाय उसी को धर्मश्रमण कहते हैं। जो प्राप्त साधनों का दुरुप-योग करता है अथवा प्रमादी बनता है, वह पापीश्रमण कहलाता है, इसलिये श्रमण साधक को खूब सावधान रहना चाहिये और समाधि की ही साधना करना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूं—

इस तरह 'पापश्रमण' नामक १७ वां अध्याय समाप्त हुआ।

संयतीय

संयति राजर्षि संबंधी

१८

चारित्रशील का मौन जो प्रभाव डालता है वैसा प्रभाव हजारों व्याख्यानदाता अथवा लाखों चोंपड़े (ग्रंथ) नहीं डाल सकते। ज्ञान का एकतम उद्देश चारित्र का स्फुरण (उत्पत्ति) है। चारित्र की एक ही चिनगारी सैंकड़ों जन्मों के कर्मावरण (कर्मों के परदों) को जला कर भस्म कर देती है। चारित्र की सुवास करोड़ों पापों की दुर्गंध को नष्ट कर देती है।

एक समय कंपिला नगरी के महाराजा शिकार के लिये कांपिल्यकेसर वन में प्रविष्ट होते हैं इस कारण इस वन के समस्त निर्दोष मृगादिक पशु भयभीत हो बेचैन हो जाते हैं। मृगया रस में डूबे हुए महाराजा के हृदय में दया के बदले निर्दयता ने अड्डा जमाया है।

घोड़े पर सवार होकर, अनेक हिरनों को घायल मारने के बाद ज्यों हीं वह एक घायल मृग के पास आता है त्यों ही उस मृग के पास पद्मासन लगा कर बैठे हुए एक योगिराज को वह

प्राप्त होती हैं परन्तु आदर्श साधु, उनका कभी दुरुपयोग नहीं करते किन्तु फिर भी महाराजा को डर लगना स्वाभाविक था क्योंकि उनका हृदय स्वयं दोष स्वीकार कर रहा था।

समाधि टूटने पर साधुने अपनी आँखें खोलीं। सामने करबद्ध हाथ बाँधे हुए भयभीत राजा को खड़ा देख कर वे बोले।

(११) हे राजन्! तुम अभय होवो! और अब से तू भी (अपने से क्षुद्र) जीवों के प्रति अभय (दान का) दाता हो जा। अनित्य इस जीवलोक (संसार) में हिंसा के कार्य में क्यों आसक्त होता है?

टिप्पणी—जैसे तू मेरे भय से मुक्त हुआ वैसे ही तू भी आज से तेरे भय से सब जीवों को मुक्त कर दे। अभयदान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। क्षणिक इस मनुष्य जीवन में ऐसी घोर हिंसा के काम क्यों करते हो?

(१२) यदि राजपाट, महल मकान, बागबगीचा, कुटुम्ब कबीला और शरीर को छोड़ कर तुझे आगे पीछे कभी न कभी कर्मवशात् जाना ही पड़ेगा तो अनित्य इस संसार में राज्य पर भी आसक्त क्यों होता है?

(१३) जिसपर तू मोहित हो रहा है वह जीवन तथा रूप ये तो बिजली के कौंदा (चमत्कारा) के समान एक क्षण स्थायी हैं। इसलिये हे राजन्! इस लोक की चिंता छोड़ कर परलोक की कुछ चिंता कर। भविष्य परिणाम को तू क्यों नहीं सोचता?

(१४) स्त्री, पुत्र, मित्र अथवा बन्धुबांधव केवल जिन्दगी में ही साथ देते हैं; मरने पर कोई साथ नहीं देता।

टिप्पणी—ये रिश्तेदारियाँ (सगे सम्बन्धी), ज़िन्दगी तक ही रहते हैं और यह मनुष्य जीवन केवल क्षणिक तथा परतन्त्र है तो उस क्षणिक सम्बन्ध के लिये जीवन हार जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

(१५) जैसे पितृ-वियोग से अति दुःखी पुत्र; मृत पिता को घर के बाहर निकाल देते हैं वैसे ही मृत पुत्रों के शरीर को पिता बाहर निकालता है। सब सगे सम्बन्धी ऐसा ही करते हैं। इसलिये हे राजन्! तपश्चर्या तथा त्याग (अनासक्ति) के मार्ग में गमन करो।

टिप्पणी—जीव निकल जाने पर यह सुन्दर देह भी सड़ने लगती है इसलिये प्रेमीजन भी उसको जल्दी बाहर निकाल कर चिता में जला देते हैं।

(१६) हे राजन्! घरधणी (मालिक) के मरने पर उसके इकट्ठे किये हुए धन तथा पाली पोसी गई स्त्रियों को कोई दूसरे ही भोगने लगते हैं तथा घरवाले लोग हर्ष तथा संतोष के साथ उस मरे हुए के आभूषणों को पहिर कर आनंद करते हैं।

टिप्पणी—मृत सम्बन्धी का दुःख थोड़े ही दिन तक सालता है क्योंकि संसार का स्वभाव ही यह है कि स्वार्थ होने पर बहुत दिनों में और स्वार्थ न होने पर थोड़े समय में ही उस दुःख को भूल जाते हैं।

(१७) सगे संबंधी, धन, परिवार ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। केवल जीव के किये हुए शुभाशुभ कर्म ही साथ जाते हैं। उन शुभाशुभ कर्मों से वेष्टित जीवात्मा अकेला ही परभव में जाता है।

के शिष्य हैं ? आप किन कारणों से विनीत कहलाते हो ?

(२२) (संयति मुनि उत्तर देते हैं:—) "मेरा नाम संयति है, गौतम मेरा गोत्र है ! ज्ञान तथा चारित्र से विभूषित ऐसे आचार्य गर्दभाली हमारे गुरुदेव हैं।"

टिप्पणी—मुक्ति सिद्धि के लिये योग्य ऐसे गुरुवर की मैं सेवा करता हूँ। अब "विनीत किसे कहते हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

(२३) अहो क्षत्रियराज महामुनि ! (१) क्रियावादी (समझे बिना केवल क्रिया करने वाले); (२) अक्रियावादी (तोता के ज्ञान के समान ज्ञानवाले किंतु क्रिया शून्य); (३) केवल विनय द्वारा ही मुक्ति प्राप्ति में मानने वाले; तथा (४) अज्ञानवादी—इन ४ प्रकार के वादों के पक्षपाती पुरुष भिन्न २ प्रकार के मात्र विवाद ही किया करते हैं किन्तु सच्चे तत्त्व की प्राप्ति के लिये जरासा भी प्रयत्न नहीं करते इस विषय में तत्त्वज्ञ पुरुषों ने भी यही कहा है।

टिप्पणी—दूसरा कहने का अभिप्राय यह है कि एकान्त को मानने वाला एकान्तवादी साधक 'अनेकान्त नहीं कह सकता'। इन वादों में से एकान्तवाद को नहीं मानना है यह मत मुनि ने स्पष्ट कर दिया।

(२४) तत्त्व के ज्ञाता सच्चे पुरुषों तथा क्षायिक ज्ञान (शुद्ध ज्ञान) तथा क्षायिक चारित्र से संयुक्त भगवान महावीर ने भी इसी प्रकार प्रकट किया है।

(२५) इस लोक में जो असत्य प्ररूपणा (अनन्तत्व को उल्टा समझते हैं) करते हैं वे घोर नरक में जाते हैं और जो आर्य (सत्य) धर्म का प्ररूपण करते हैं वे दिव्यगति को प्राप्त होते हैं।

(२६) सत्य सिवाय दूसरे मान कपट युक्त मत प्रवर्त रहे हैं वे निरर्थक तथा खोटे वाद हैं—ऐसा जान कर मैं संयम में दत्तचित्त हो ईर्या समिति में तल्लीन रहता हूँ।

टिप्पणी—सर्व श्रेष्ठ जैन शासन को जानकर उस मार्ग में मैं गमन करता हूँ। ईर्या समिति यह जैन श्रमणों की एक क्रिया है। विवेक तथा उपयोगपूर्वक गमन करना—इसको ईर्या समिति कहते हैं।

(२७) (क्षत्रिय राजर्षि ने कहा:—) इन सब अशुद्ध तथा असत्य दृष्टि वाले अनार्य मतों को मैंने भी जान लिया तथा परलोक के विषय में भी जान लिया है इससे अब मैं सत्य रूप से आत्मस्वरूप को पहिचान कर मैं भी जैन शासन में विचरता हूँ।

टिप्पणी—क्षत्रिय राजर्षि ने सब वादों को जान लिया था और उनमें अपूर्वता मालूम पड़ने से ही उनने पीछे से जैन जैसे विशाल शासन की दीक्षा ली थी।

यह सुनकर संयति मुनिने कहा:—

(२८) मैं पहिले महाप्राण नाम के विमान में पूर्ण आयुष्यधारी कान्तिमान देव था। वहाँ की सौ वर्ष की उपमावाली उत्कृष्ट आयु है जो बहुत लम्बे काल प्रमाण की होती है।

टिप्पणी—पाँचवे देवलोक में मैं देवरूप में था तब मेरी आयु दस सागर की थी। सर्व संख्यातीत महान काल प्रमाण को सागरोपम कहते हैं।

(२९) मैं उस पंचम स्वर्ग (ब्रह्म) से चय कर मनुष्य योनि में संयति राजा के रूप में अवतीर्ण हुआ हूँ। (निमि

वशात् दीक्षित होकर) अब मैं अपनी तथा दूसरे की आयु को बराबर जान सकता हूँ ।

टिप्पणी—संयति राजर्षि को ऐसा विशुद्ध ज्ञान था कि जिसके द्वारा वे अपनी तथा दूसरे की आयु जान सकते थे।

(३०) हे क्षत्रिय राजर्षि ! संयमी को भिन्न २ प्रकार की रुचियों स्वच्छन्दों का त्याग कर देना चाहिये और सभी काम-भोग केवल अनर्थ के मूल हैं ऐसा जानकर ज्ञानमार्ग में गमन करना चाहिये ।

(३१) ऐसा जानकर दूषित (निमित्तादि शास्त्रों द्वारा कहे जावे) प्रश्नों से मैं निवृत्त हुआ हूँ । तथा गृहस्थों के साथ गुप्त रहस्यभरी बातें करने से भी विरक्त हुआ हूँ । अहा ! संसार के सच्चे त्यागी संयमी को दिनरात ज्ञानपूर्वक तपश्चर्या में ही संलग्न रहना चाहिये ।

टिप्पणी—इस तरह संयति राजर्षि ने बड़ी मधुरता से साधु का आचरण वर्णन कर स्वयं तदनुसार पालन करते हैं इसकी प्रतीति देकर विनीत (जैन शास्त्रानुसार श्रमण की व्याख्या) कह सुनाई ।

यह सुनकर क्षत्रिय राजर्षि ने इस विषय में अपनी पूर्ण सम्मति प्रकट करते हुए हम दोनों एक ही जिनशासन के अनुयायी हैं ऐसा प्रतीति देकर कहा:—

(३२) यदि तुम मे सच्चे तथा शुद्ध अन्तःकरण से पूछो तो मैं तो यही कहूँगा कि जो तत्व तीर्थंकर देवों ने कहा है वही सद्‌ज्ञान जिनशासन में प्रकाशित हो रहा है ।

ही उपरोक्त भरतादिक शूरवीरों तथा प्रबल पुरुषार्थी पुरुषों ने ज्ञान तथा क्रिया से युक्त जैनमार्ग को धारण किया था।

(५३) संसार का मूल शोधने में समर्थ यह सत्यवाणी मैंने प्रेम से कही है, उसे सुनकर आचरण में लाने से बहुत से महापुरुष (इस संसार सागर को) तैर कर पार गये हैं, वर्तमान काल में (तुम्हारे जैसे ऋषिराज) तर रहे हैं और भविष्य में अनेक भवसागर पार जायेंगे।

टिप्पणी—इस तरह इन दोनों आत्मार्थी श्रमणों का सत्संग यहाँ समाप्त होता है और दोनों अपने २ स्थानों को विहार कर जाते हैं।

(५४) धीरपुरुष संसार की निरर्थक वस्तुओं के लिये अपनी आत्मा को क्यों हने? अर्थात् नहीं हने ऐसा जो कोई विवेक करता है वह सर्व संग (आसक्तियों) से मुक्त होकर त्यागी होता है और अन्त में निष्कर्मी होकर सिद्ध होता है।

टिप्पणी—चक्रवर्ती जैसे महाराजाओं में मनुष्य लोक की संपूर्ण शक्ति विलासिता तथा ऋद्धि होती है। भला उनके भोगों में क्या कमी रह सकती है? फिर भी उनको पूर्ण तृप्ति तो नहीं हुई। इसका कारण तो यह है कि तृप्ति भोगों में है ही नहीं, वह केवल वैराग्य में है। तृप्ति निरासक्ति में है, शांति निर्मोह दशा में है, इसीलिये ऐसे समर्थ तथा समृद्धिवान राजाओं ने बाह्य संपत्ति को छोड़कर आत्मिक संपत्ति की प्राप्ति के लिये संयम मार्ग में गमन किया था।

सुख का केवल एक ही मार्ग है, शान्ति से भेंटने की केवल एक ही धर्म है तथा सुज्ञान का यह एक ही सोपान है। अनेक आत्माएँ भूलकर भटक कर, इधर उधर टकरा कर अन्त में यहीं

आई हैं, यहीं ही उनने विश्राम किया है और यहीं ही उन्हें इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने कहा था वह मैंने अब तुमसे कहा है—ऐसा श्री सुधर्म स्वामी ने जंबू स्वामी से कहा।

'ऐसा मैं कहता हूं'—

इस तरह संयति मुनि संबंधी अठारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

मृगापुत्रीय

मृगापुत्र संबंधी

१९

कुकर्म के परिणाम कटु होते हैं। दुरात्मा की दुष्ट वासना का अनुसरण करने में बड़ा भय है। केवल एक छोटी सी भूल से इस लोक तथा परलोक दोनों में अनेक संकट भोगने पड़ते हैं। दुर्गति के दुःख इतने दारुण होते हैं जिनको सुन कर भी रोंमे खड़े हो जाते हैं तो फिर उनको भोगने की तो बात ही क्या ?

मृगापुत्र पूर्व के संस्कारों के कारण योगमार्ग पर जाने के लिये तत्पर होता है। माता पिता अपने पुत्र को योगमार्ग में आने वाले दारुण संकटों तथा कष्टों का परिचय देते हैं। पुत्र उत्तर देता है:—माता पिता जी ! स्वेच्छा से सहन किये हुए कष्ट कहां! और परवश रूप से भोगने पड़ते दारुण दुःख कहां! इन दोनों में समानता हो ही नहीं सकती।

अन्त में मृगापुत्र की संयम ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा माता पिता को पिघला देती है। संसार का त्याग कर तथा तपश्चर्या का मार्ग ग्रहण कर योगीश्वर मृगापुत्र इसी जन्म में

परम पुरुषार्थ द्वारा कर्मरूपी कांचली को भेदते हैं तथा अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध और सिद्ध बन जाते हैं।

भगवान बोले—

(१) बड़े २ वृक्षों से गाढ़ घने हुए काननों, क्रीड़ा करने योग्य उद्यानों से सुशोभित तथा समृद्धि के कारण रमणीय ऐसे सुग्रीव नामक नगर में बलभद्र नामक राजा राज्य करता था और उसकी पटरानी का नाम मृगावती था।

(२) माता पिता का अत्यंत प्यारा तथा राज्य का एकमात्र युवराज बलश्री नाम का उनके एक राजकुमार था जो दमितेन्द्रियों में अग्रणी था। उसको प्रजा मृगापुत्र कह कर पुकारती थी।

(३) वह दोगुन्दक (त्रायस्त्रिंशक जाति के) देव की तरह मनोहर रमणियों के साथ हमेशा नन्दन नामक महल में आनन्द पूर्वक क्रीड़ा किया करता था।

टिप्पणी—देवलोक में त्रायस्त्रिंशक नामक भोगी देव होते हैं।

(४) जिनके फर्श मणि तथा रत्नों से जड़े हुए हैं ऐसे महल में बैठा हुआ वह खिड़की में से नगर के तीन रास्तों के संगम स्थानों, चौरस्तों तथा बड़े बड़े चौगानों को सरसरी तौर से देख रहा था।

(५) इतने में उस मृगापुत्र ने तपश्चर्या, संयम तथा नियमों को धारण करने वाले अपूर्व ब्रह्मचारी तथा गुणों की खान के समान एक संयमी को वहां से जाते हुए देखा।

(६) मृगापुत्र एक टक से उस योगीश्वर को देखता रहा। देखते देखते उसको विचार आया कि कहीं न कहीं ऐसा स्वरूप (वेश) मैंने पहिले कभी देखा है।

(७) साधुजी के दर्शन होने के बाद इस प्रकार चिंतवन करते हुए (उसका) शुभ अध्यवसाय (मनोभाव) जागृत हुआ और क्रम से मोहनीय भाव उपशांत ऐसे मृगापुत्र को तत्क्षण जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—जैन दर्शन में प्रत्येक जीवात्मा आठ कर्मों से वेष्टित माना गया है और उन्हीं कर्मों का यह फल है कि इस आत्मा को जन्म मरण के दुःख भोगने पड़ रहे हैं। इन आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक क्रूर तथा बलवान है। इस की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम है। इतनी स्थिति अन्य किसी भी कर्म की नहीं है। इस कर्म का जितने अंशों में क्षय अथवा उपशम होता जाता है उतनी उतनी आत्माभिमुख प्रवृत्तियां बढ़ती जाती हैं। मृगापुत्र के मोहनीय कर्म के उपशम होने से उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ। जातिस्मरण होने में मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होना अनिवार्य नहीं है। इस ज्ञान के होने से संज्ञी (मन सहित) पंचेंद्रिय जीव अपने पिछले ९०० भवों का स्मरण कर सकता है। जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है।

(८) संज्ञी (मन सहित) पंचेन्द्रिय को ही होने वाले (जाति स्मरण) ज्ञान के उत्पन्न होने से उसने अपने पूर्व भवों का स्मरण किया तो उसे मालूम हुआ कि वह देवयोनि में से च्यवकर मनुष्य भव में आया है।

* महान् बुद्धिवान् मृगापुत्र पूर्व जन्मों का स्मरण करता है। उनको स्मरण करते करते उन भवों में धारण किये साधुत्व का भी उसे स्मरण होता है।

(९) साधुत्व की याद आने के बाद (उन्हें) चारित्र के प्रति अत्यधिक प्रीति और विषयों से उतनी ही विरक्ति पैदा हुई। इसलिये मातापिता के पास आकर वे इस प्रकार वचन बोले।

(१०) हे मातापिता! पूर्व काल में मैंने पंच महाव्रत रूपी संयम धर्म का पालन किया था उसका मुझे स्मरण होरहा है और इस कारण नरक, पशु आदि अनेक गति के दुःखों से परिपूर्ण इस संसार समुद्र से निवृत्त होना चाहता हूँ। इसलिये आप मुझे आज्ञा दो। मैं पवित्र प्रव्रज्या (गृहत्याग) अंगीकार करूंगा।

टिप्पणी—"पूर्वकाल में पंचमहाव्रत धारण" करने की बात कही है इससे सिद्ध होता है कि प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय में मृगापुत्र संयमी हुए होंगे।

(११) हे मातापिता! अन्त में विष (किंपाक) फल की तरह निरन्तर कडुए फल देने वाले तथा एकान्त दुःख की परम्परा से वेष्टित ऐसे भोगों को मैंने (पूर्व काल तथा इस जन्म में) खूब खूब भोग लिया है।

(१२) यह शरीर अशुचि (शुक्र वीर्यादि) से उत्पन्न होने से केवल अपवित्र तथा अनित्य है (रोग, जरा, इत्यादि के) दुःख तथा क्लेशों का भाजन है तथा क्षणभंगुर है।

---

* यह गाथा किसी किसी प्रति में अधिक पाई जाती है।

(१३) पानी के बुदबुद के समान अस्थिर इस शरीर में मोह कैसा ! यह अभी अथवा पीछे (बाल, तरुण, वृद्धावस्था में कभी न कभी) अवश्य जाने वाला है तो मैं इसमें क्यों लुभाऊं ?

(१४) (यह शरीर) पीड़ा तथा कुष्टादि रोगों का घर है, बुढ़ापा तथा मृत्यु से घिरा हुआ है। ऐसे असार तथा क्षणभंगुर मनुष्य के शरीर में अब मुझे क्षणमात्र के लिये भी रति (आनन्द) प्राप्त नहीं होता।

(१५) अहो ! सचमुच यह सारा ही संसार अत्यन्त दुःखमय है। इसमें रहने वाले बिचारे प्राणी जन्म, जरा, रोग तथा मरण के दुखों से पिसे जा रहे हैं।

(१६) (हे मातापिता) ! ये सब क्षेत्र, घर, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री, बन्धु बांधव तथा इस शरीर को भी छोड़ कर आगे पीछे कभी न कभी, पराधीन रूप में सब को अवश्य जाना ही पड़ेगा।

टिप्पणी—जीवात्मा यदि इन कामभोगों को नहीं छोड़ेगा तो ये कामभोग ही कभी न कभी इसे छोड़ देंगे। जब छोड़ना निश्चित है तो क्यों न मैं उन्हें स्वेच्छापूर्वक छोड़ दूँ ? स्वेच्छा से छोड़े हुए कामभोग दुःखद नहीं, किन्तु सुखद होते हैं।

(१७) जैसे किंपाक फल का परिणाम अच्छा नहीं होता वैसे ही भोगे हुए भोगों का फल सुन्दर नहीं होता।

टिप्पणी—किंपाक वृक्ष का फल देखने में मनोहर तथा खाने में अति मधुर होता है परन्तु खाने के बाद थोड़ी ही देर में उससे मृत्यु हो जाती है।

(१८) (और हे माता पिता!) जो मुसाफिर अटवी (बीयांबान जंगल) जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवे के बिना मुसाफिरी करने को चल पड़ता है और आगे जा कर भूख प्यास से अत्यन्त पीड़ित होता है।

(१९) इसी तरह जो आत्मा धर्म धारण किये बिना पर भव में जाता है वह वहां जाकर अनेक प्रकार के रोगों तथा उपाधियों से पीड़ित होता है!

टिप्पणी—यह संसार एक प्रकार की अटवी है। जीव मुसाफिर है। तथा धर्म कलेवा है। जो साथ में धर्म रूपी कलेवा हो तो ही पर जन्म में शान्ति मिल सकती है और समस्त संसार रूपी अटवी को सकुशल पार कर सकता है।

(२०) जो मुसाफिर अटवी जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवा साथ ले कर गमन करता है वह रास्ते में क्षुधा तथा तृषा से रहित सुख से गमन करता है।

(२१) इसी तरह जो आत्मा धर्म का पालन करके परलोक में जाता है वह वहां अल्पकर्मी होने से सदैव नीरोग रह कर सुख लाभ करता है।

(२२) और हे मातापिता! यदि घर में आग लग जाय तो घर का मालिक असार वस्तु को छोड़ कर सब से पहिले बहुमूल्य वस्तुएं ही निकालता है।

(२३) इसी तरह यह समस्त लोक जन्म, जरा, मरण से जल रहा है। यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं उसमें से (तुच्छ काम भोगों को छोड़ कर) केवल अपनी आत्मा को ही उबार लूं।

(२४) (तरुण पुत्र की उत्कट इच्छा देख कर) माता पि
कहा—हे पुत्र ! साधुपन अत्यन्त कठिन है। साधु पु
को हजारों गुण धारण करने पड़ते हैं ।

टिप्पणी—सच्चे साधु को समस्त दोषों को दूर कर हजारों गुणों का वि
करना पड़ता है।

(२५) जीवन पर्यन्त जगत के समस्त जीवों पर समभाव रख
पड़ता है। शत्रु तथा मित्र दोनों को एक दृष्टि से देख
पड़ता है और चलते, फिरते, खाते, पीते आदि प्रत्ये
क्रिया में होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा का त्याग कर
पड़ता है। सचमुच ऐसी परिस्थिति प्राप्त करना स
सामान्य के लिये दुर्लभ है ।

(२६) साधु जीवन पर्यन्त भूल में भी असत्य नहीं बोलता
सतत अप्रमत्त (सावधान) रहकर हितकारी कि
सत्य वचन ही बोलना यह बात बहुत बहुत कठिन है।

(२७) साधु दांत कुरेदने की सींक तक भी स्वेच्छा पूर्वक दि
बिना ग्रहण नहीं कर सकता। इस तरह की निर्दो
भिक्षा प्राप्त करना अति कठिन है।

टिप्पणी—दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में ४२ दोषों का वर्ण
है। उन दोषों से रहित भोजन को ही ग्रहण करने की साधु
आज्ञा है।

(२८) कामभोगों के रस के जानकार के लिये अब्रह्मचर्य (मैथुन)
से बिलकुल विरक्त होना अत्यन्त कठिन बात है। ऐसा घो
अखंड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना अति अति कठिन है।

टिप्पणी—जिसने कामभोग विषयक रस को जानलिया है उसकी अपेक्षा आजन्म ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना अधिक सरल है क्योंकि आजन्म ब्रह्मचारी को तो उस रसकी खबर न होने से संकल्प विकल्प या स्मरण होने का कारण ही नहीं है किन्तु जो उस रस को जानता है वह तो स्मरण, संकल्प विकल्प, तथा उसके बाद मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक ब्रह्मचर्य की बड़ी मुश्किल से रक्षा कर सकता है।

(२९) धन धान्य या दास दासी आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह न रखना तथा हिंसादि सभी क्रियाओं का त्याग करना बड़ा ही कठिन है। त्याग करके भी आसक्ति का न रखना यह और भी कठिन है।

(३०) साधु अन्न, पानी, मेवा, या मुखवास इन चारों में से किसी भी प्रकार का आहार रात्रि को ग्रहण नहीं कर सकता तथा किसी भी वस्तु का दूसरे दिवस के लिये संग्रह नहीं कर सकता। यह छठा व्रत है और यह भी अति कठिन है।

टिप्पणी—जैन साधु के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है

साधु जीवन में आने वाले आकस्मिक संकट—

(३१) क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक (ध्यानावस्था में डांस मच्छरों द्वारा कष्ट पहुँचना), कठोर वचन, दुःखद स्थल, तृणस्पर्श, मल।

(४५) इस संसारचक्र में दुःख तथा भय उत्पन्न करने वाली शारीरिक तथा मानसिक वेदनाएं अनंत बार सहन कर चुका हूँ।

(४६) जरा तथा मरण से घिरे हुए तथा चार गति रूप भव से भरे हुए इस संसार में मैंने जन्म-मरण को महा भयंकर वेदनाएं बहुत बार सहन की हैं।

नरक भूमि के घोर दुःख—

(४७) यहां की अग्नि जितनी गरम होती है उससे अनन्त गुनी अधिक गरम नरक योनि की अग्नि होती है। नरक योनियों में ऐसी उष्ण वेदनाएं मैंने कर्मवशात् बहुत बार सहन की हैं।

(४८) यहां की ठंडी की अपेक्षा नरक योनि में अनंत गुनी अधिक ठंडी पड़ती है। मैंने (कर्मवशात्) अनेक बार नरक योनि में वैसी ठंडी की वेदनाएं सहन की हैं।

(४९) कंदु नाम की कुंभी (लोहे की कुप्पी) में विलाप करता करता पैर ऊपर तथा सिर नीचे (औंधा) किया जाकर अनेक बार मैं (देवकृत) अग्नि मे पकाया गया हूँ।

टिप्पणी—नरक योनि में कन्दु आदि नाम के भिन्न २ कुंभी स्थान होते हैं जहाँ नारकी जीव उत्पन्न होते हैं। इन नारकी जीवों को परमा धार्मिक नामक वहां के अधिष्ठाता अनेक कष्ट देते हैं।

(५०) पूर्व काल मे महा दावाग्नि के समान मरुभूमि की वज्र जैसी कठिन रेती वाली कदंब वालुका नदी में मैं अनन्त बार जला हूँ।

(५१) कन्दु कुंभियों में असहाय ऊंचा बंधा हुआ तथा जोर २ से चिल्लाता हुआ मैं आरा तथा क्रकच (शस्त्र विशेष) आदि द्वारा अनेक बार चीरा गया हूँ।

(५२) अति तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त ऐसे सेंमल वृक्ष के साथ बाँधकर तथा आगे पीछे उल्टा सुल्टा खींचकर परमाधामिकों द्वारा दी गई यातनायें मैंने अनेक बार सहन की हैं।

टिप्पणी—सेंमल का वृक्ष ताड़ से भी अधिक ऊँचा होता है।

(५३) पापकर्म के परिणाम से मैं पूर्वकाल में बड़े २ यंत्रों में गन्ने की तरह अति भयंकर चीत्कार करता हुआ अनेक बार पेरा गया हूँ।

(५४) सूअर तथा कुत्ते के समान श्याम शवल जाति के परमाधार्मिक देवों ने अनेक बार तड़फा तड़फा कर मुझे जमीन पर दे मारा, शस्त्रादिकों से मुझे चीरफाड़ डाला तथा बचाओ, बचाओ की प्रार्थना करते हुए भी अनेक बार मेरे टुकड़े २ कर डाले हैं।

(५५) परमाधार्मिकों ने पापकर्म से नरक स्थान में गये हुए मेरे शरीर के अलसी के पुष्पवर्णी तलवार, खड्ग, तथा भालों से दो खंड, अनेक खंड तथा अति सूक्ष्म खण्ड २ कर डाले।

(५६) चमचमाते हुए धुरा दण्ड जुआवाले तथा लोहे के रथ में परवशात् जोड़ कर तथा जुए के जोतों द्वारा बांध कर, जिस तरह लाठियों से रोज (पशु विशेष) को मारते हैं, वैसे ही मुझे भी मर्मस्थानों, अथवा जमीन पर डाल कर खूब मार मारी है।

(५७) चिताओं में रख कर जिस तरह भैंसों को भून डालते हैं वैसे ही पापकर्मों से वेष्टित मुझे पराधीन रूप से प्रदीप्त अग्नि में डाल कर भूना है तथा जला कर भस्म कर डाला है।

(५८) ढेंक तथा गिद्ध पक्षियों के रूप धर कर लोहे की सण्सी के समान मजबूत चोंचों द्वारा रुदन करते हुए मुझको परमाधार्मिकों ने अनंत बार चोंचें मार २ कर दुःख दिया है।

(५९) नरक गति में प्यास से बहुत पीड़ित होकर मैं इधर-उधर दौड़ता फिरा और वैतरणी नदी में पानी देखकर मैं उधर दौड़ पड़ा। किन्तु उस छुरा की सी पैनी धार वाले पानी ने मेरे अंगभंग कर डाले।

(६०) ताप से पीड़ित होकर असि (तलवार) पत्र नामक वन में (छाया की आशा से) गया था। वहां वृक्ष के नीचे बैठा ही था कि झट ऊपर से तलवार के समान धारवाले पत्तों के पड़ने से मैं अनन्तवार छेदा गया।

(६१) मुग्दर, मूसल नामक शस्त्रों, शूलों, तथा सब्बलों द्वारा मेरे अंगउपांग सब छिद गये थे और ऐसे दुःख मैंने अनंतवार सहन किये हैं।

(६२) छुरी की तीक्ष्ण धार से मेरी अनन्तवार खाल उतारी गई तथा अनन्तवार मैं कैंचियों द्वारा काटा और छेदा गया हूं।

(६३) (वहां) शिकारी की कपट जालों में पकड़ा जाकर मृग की तरह परवशता के कारण बहुत बार बांधा गया, रूंधा गया तथा मुझ पर बोझ लादा गया।

(६४) मोटे जाल के समान छोटी २ मछलियों को निगल जाने वाले मगरमच्छों के सामने एक छोटे से मच्छ की तरह परवशता के कारण बहुत बार मैं परमाधार्मिकों द्वारा पकड़ा गया, खींचा गया, फाड़ा गया और मारा गया ।

(६५) जिस तरह कांटे वाली तथा लेपवाली जालों में पक्षी विशेषतः फांसे जाते हैं उसी तरह मैं परमाधार्मिकों द्वारा अनेक बार पकड़ा गया, लेपागया, बांधा गया तथा मारा गया ।

(६६) बढ़ई जिस तरह वृक्ष के टुकड़े २ कर देता है वैसे ही परमाधार्मिकों ने कुल्हाड़ी तथा फरसों द्वारा मुझे चीर डाला, मूंज की तरह बंट डाला, कूट डाला तथा छील डाला ।

(६७) जैसे लुहार चीमटा तथा घन से लोहे को टीपता है वैसे ही मैं भी अनंतवार कूटा गया हूँ, भेदा गया हूँ और मारा गया हूँ ।

(६८) मेरे बहुत अधिक चीत्कार तथा रुदन करने पर भी तांबा, लोहा, सीसा, आदि धातुओं को खूब खौलती हुई गरम करके मुझे जबर्दस्ती पिलाया है ।

(६९) (उक्त धातु प्रवाहों को मुझे पिलाते २ परमाधार्मिक यों कहते जाते थे:—) ओ अनार्य कार्य करने वाले ! तुझे पूर्वभव में मांस बहुत प्रिय था तो ले यह मांस पिंड ! ऐसा कह कर उनने अग्नि से लाल तप्त चिमटों से मेरे शरीर का मांस नोंच २ कर तथा उसे अग्नि में तपा कर जबर्दस्ती मेरे मुँह में अनेक बार ठूँसा था ।

(७०) (तथा तुझे) पूर्वभव में गुड़ तथा महुडे आदि

बनी हुई शराब बहुत पसंद थी तो यह ले शराब! ऐसा कहकर उनने अनेक बार मेरे ही शरीर के रक्त तथा चर्बी निकाल तथा तपाकर मुझे पिलाया है।

(७१) भयसहित, उद्वेग सहित, दुःख सहित पीड़ित मैंने अत्यन्त दुःख पूर्ण वेदनाओं के अनेक अनुभव किये हैं।

(७२) नरकयोनि में मैंने तीव्र, भयंकर, असह्य, महाभयकारक, घोर एवं प्रचंड वेदनाएं अनेक बार सहन की हैं।

(७३) हे तात! मनुष्य लोक में जैसी भिन्न २ प्रकार की वेदनाएं सही जाती हैं उससे अनन्त गुनी वेदनाएं नरक में भोगनी पड़ती हैं।

(७४) हे माता-पिता! जहां पलक मारने (पलमात्र) तक के लिये भी शांति नहीं है ऐसे सर्व भवों में मैंने असाताएं (वेदनाएं) सही हैं।

(७५) यह सुनकर माता-पिता ने कहा:—"हे पुत्र! जो तेरी इच्छा है तो भले ही खुशी से दीक्षा ग्रहण कर किंतु चारित्र धर्म में दुःख पड़ने पर प्रतिक्रिया (इलाज) नहीं होती—क्या यह तुझे खबर है"

(७६) मृगापुत्र ने जवाब दिया:—"आप जो कहते हैं वह सत्य है। परन्तु मैं आप से यह पूछता हूँ कि जंगल में पशु पक्षी विचरते हैं उनके ऊपर कष्ट पड़ने पर उनकी प्रतिक्रिया कौन करता है"

टिप्पणी—पशुपक्षियों के कष्ट जैसे उपाय किये बिना ही शान्त हो जाते हैं वैसे ही मेरा दुःख भी शान्त हो जायगा।

(७७) जैसे जंगल में अकेला मृग सुख से विहार करता है वैसे

ही संदन तथा तपश्चर्या से मैं एकाकी (रागद्वेष रहित) होकर चारित्र धर्म में सुख पूर्वक विचरूंगा।

(७८) बड़े वन में एक बड़े वृक्ष के मूल में बैठे हुए मृग को जब (पूर्वकर्मोदय से) रोग उत्पन्न होता है तब वहाँ उसका इलाज कौन करता है?

(७९) वहां जाकर उसे कौन औषधि देता है? उसके सुख दुःख की चिन्ता कौन करता है? कौन उसको भोजन पानी लाकर खिलाता है?

टिप्पणी—जिसके पास अधिक साधन हैं उसीको सामान्य दुःख अति-दुःख रूप मालूम होते हैं।

(८०) जब वह नीरोग होता है तब वह स्वयमेव वन में जाकर सुन्दर घास तथा सरोवर ढूंढ लेता है।

(८१) घास खाकर, सरोवर का पानी पीकर तथा मृगचर्या करके फिर पीछे अपने निवास स्थान पर आजाता है!

(८२) इसी तरह ज्ञानवंत साधु एकाकी मृगचर्या करके फिर ऊँची दिशा में गमन करता है।

(८३) जैसे एक ही मृग अनेक जुदे २ स्थानों में रहता है इसी तरह मुनि भी गोचरी (भिक्षाचरी) में मृगचर्या की तरह भिन्न २ स्थानों में विचरे और सुन्दर भिक्षा मिले या न मिले तो भी दाता का तिरस्कार या निंदा न करे।

(८४) इसलिये हे माता-पिता! मैं भी उसी मृग की तरह (निरासक्त) चर्या करूंगा। इस प्रकार पुत्र का दृढ़ वैराग्यभाव देखकर माता-पिता के वात्सल्य से कठोर हृदय भी पिघल गये और उनने कहा:—हे पुत्र! जिससे

(२६) एक ही माता के पेट से जन्मे हुए मेरे छोटे बड़े भाई भी मुझे मेरी पीड़ा से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथता है।

(२७) हे महाराज! छोटी और बड़ी मेरी सगी बहनें भी मुझे इस दुःख से न बचा सकीं—यह मेरी अनाथता नहीं है तो क्या है?

(२८) हे महाराज! उस समय मुझ पर अत्यन्त प्रेम करनेवाली पतिव्रता पत्नी आंसूभरे नेत्रों द्वारा मेरे हृदय को भिगो रही थी।

(२९) मेरा दुःख देख कर वह नवयौवना मुझ से जान-अनजान में अन्न, पान, स्नान या सुगन्धित पुष्पमाला अथवा विलेपन आदि कुछ भी (शृङ्गार) नहीं करती थी। (सब शृङ्गार का उसने त्याग कर रक्खा था।)

(३०) और हे महाराज! एक क्षण के लिये भी वह सहचारिणी मेरे पास से दूर न होती थी। (इतनी अगाध सेवा द्वारा भी) वह मेरी इस वेदना को दूर न कर सकी—यही मेरी अनाथता है।

(३१) इस प्रकार चारों तरफ से असहायता का अनुभव होने से मैंने सोचा कि इस अनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें यह बात बहुत असह्य है।

(३२) इसलिये जो अबकी बार मैं इस दारुण वेदना से छूट जाऊँ तो मैं क्षांत (क्षमाशील) दान्त तथा निरारम्भी हो कर तत्क्षण ही संयम धारण करूंगा।

(३३) हे राजन! रात्रि को ऐसा निश्चय करके मैं सो गया और

ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई त्यों त्यों मेरी वह दारुण वेदना भी क्षीण होती गई।

(३४) उसके बाद प्रातःकाल तो मैं बिलकुल नीरोग होगया और उक्त सभी सगे सम्बन्धियों की आज्ञा लेकर क्षांत, दांत, तथा निरारम्भी होकर मैं संयमी बन गया।

(३५) संयम धारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस (द्वीन्द्रियादिक) जीवों तथा स्थावर (एकेन्द्रियादिक) जीवों—सब का नाथ (रक्षक) होगया।

टिप्पणी—आसक्ति के बन्धन छूटने से अपनी आत्मा छूटती है। इसी आत्मिक स्वावलम्बन का अपर नाम सनाथता है। ऐसी सनाथता मिल जाने पर बाह्य सहायताओं की इच्छा ही नहीं रहती। जिस जीव को ऐसी सनाथता प्राप्त होती है वह जीवात्मा दूसरे जीवों का भी नाथ बन सकता है। बाह्य बन्धनों से किसी को छुड़ा देना इसीका नाम सच्ची रक्षा नहीं है किन्तु दुःखी प्राणियों को आन्तरिक बन्धन से छुड़ाना इसी का नाम सच्चा स्वामित्व—सच्ची दया—है। ऐसी सनाथता ही सच्ची सनाथता है इसके सिवाय की दूसरी बातें सभी अनाथताएं ही हैं।

(३६) हे राजन्! क्योंकि यह आत्मा ही (आत्मा के लिये) वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और वही कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुखदायी भी है।

टिप्पणी—यह जीवात्मा अपने ही पाप कर्मों द्वारा नरक गति जैसे अनन्त दुःख भोगता है और वही अपने ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग आदि के विविध दिव्य सुख भी भोगता है।

(३७) यह जीवात्मा ही सुख तथा दुःखों का कर्ता तथा मोक्ता है और यह जीवात्मा ही (यदि सुमार्ग पर चले तो) अपना सबसे बड़ा मित्र है और (यदि कुमार्ग पर चले तो) स्वयं अपना सब से बड़ा शत्रु है।

इस प्रकार अपनी पूर्वावस्था की प्रथम अनाथता का वर्णन कर अब दूसरे प्रकार की अनाथता बताते हैं।

(३८) हे राजन्! बहुत से कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु उसका पालन नहीं कर सकते हैं। यह दूसरे प्रकार की अनाथता है। हे नराधिप! इस बात को तू बराबर शान्तचित्त होकर सुन।

(३९) जो कोई पहिले पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर, बाद में अपनी असावधानता के कारण उनका यथोचित पालन नहीं करता और अपनी आत्मा का अनिग्रह (असंयम) कर रसादि स्वादों (विषयों) में आसक्त हो जाता है ऐसा भिक्षु राग तथा द्वेष रूपी संसार के बन्धनों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता।

टिप्पणी—प्रव्रज्या (दीक्षा) का उद्देश्य आसक्ति के बीजों का दहन करना है। किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु तत्सम्बन्धी आसक्ति को दूर कर देना जरा टेढ़ी खीर है। इसलिये मुनि को सदैव इसका ही प्रयत्न करना चाहिये।

(४०) (१) इर्या (उपयोगपूर्वक गमनागमन,) (२) भाषा, (३) एषणा (भोजन, वस्त्र आदि ग्रहण करने की वृत्ति), (४) भोजन, पात्र, कंबल, वस्त्रादि का उठाना

रखना, तथा कारणवशात् बची हुई (५) अधिक वस्तु का योग्य स्थान में त्याग—इन पांच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता वह महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-धर्म के मार्ग में नहीं जा सकता—आराधना नहीं कर सकता।

(४१) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी अपने व्रत नियमों में अस्थिर हो जाता है, तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से भ्रष्ट हो जाता है, ऐसा साधु बहुत वर्षों तक (त्याग, संयम, केशलोंच तथा दूसरे) कष्टों द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसारसागर के पार नहीं जा सकता।

(४२) वह पोली मुट्ठी अथवा छाप बिना के खोटे सिक्के की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है और वैडूर्यमणि के सामने जैसे कांच का टुकड़ा निरर्थक (व्यर्थ) है वैसे ही ज्ञानी-जनों के समीप वह निर्मूल्य हो जाता है (गुणवानों में उसका आदर नहीं होता)।

(४३) जो इस (मनुष्य जन्म) में रजोहरणादि मुनि के मात्र बाह्य चिन्ह रखता है तथा मात्र आजीविका के लिये ही वेशधारी साधु बनता है (ऐसा मनुष्य त्यागी) नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को त्यागी [illegible] है [illegible] है ऐसे कुसाधु को पीछे से बहुत काल तक नरक के दुःखों की पीड़ा भोगनी पड़ती है।

(४४ तालपुट ऐसा दारुण विष जिसको होठों पर रखते ही तत्काल [illegible] विष खाने से, उल्टी रीति से पकड़

ग्रहण करने से, तथा विधिरहित मंत्र जाप करने से जैसे स्वयं धारण करनेवाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही विषयवासनाओं की आसक्ति से युक्त चारित्रधर्म भी ग्रहण करनेवाले का ही नाश कर डालता है।

टिप्पणी—जो वस्तु उन्नति पथ में ले जाती है वही अयोग्य या उल्टे रीति से प्रयुक्त होने पर अवनति के गड्ढे में भी डाल देती है।

(४५) सामुद्रिक शास्त्र (लक्षण शास्त्र), स्वप्नविद्या, ज्योतिष तथा विविध कौतूहल (जादूगरी आदि) विद्याओं में अनुरक्त तथा हलकी विद्याओं को सीखकर उनके द्वारा आजीविका चलानेवाले कुसाधु को (अन्त समय) उसकी कुविद्याएं शरणभूत नहीं होती।

टिप्पणी—विद्या वही है जो आत्म विकास करे। जो पतन ही करे उसे विद्या कैसे कहा जाय?

(४६) वह वेशधारी कुशील साधु अपने अज्ञानरूपी अंधकार से सदा दुःखी होता है तथा चारित्रधर्म का घात कर इसी भव में अपमान भोगता है तथा परलोक में नरक या पशुगति में जाता है।

(४७) जो साधु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर अपने निमित्त बनाई गई, मोल ली गई, अथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोष भिक्षा ग्रहण किया करता है वह कुसाधु अपने पापों के कारण दुर्गति में जाता है।

टिप्पणी—जैन साधुओं को बहुत शुद्ध तथा निर्दोष भिक्षा ही लेने का विधान किया गया है। भिक्षा के लिये उसे बहुत कठिन नियमों का पालन करना पड़ता है।

(४८) शिरच्छेद करनेवाला शत्रु भी अपना यह अपकार नहीं करता जो स्वयं यह जीवात्मा कुमार्ग में जाकर कर डालता है। किन्तु जब यह कुमार्ग पर चलता है तब इसे अपनी कृति का ध्यान ही नहीं आता। जब मृत्यु आकर गला दबाती है तभी उसको अपना भूतकाल याद आता है और तब यह बहुत पछताता है।

टिप्पणी—पर इस समय का पश्चात्ताप 'अब पछिताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत,' की तरह व्यर्थ जाता है।

(४९) ऐसे कुसाधु का सारा वेषग्रहण (त्याग) भी व्यर्थ जाता है और उसका सारा पुरुषार्थ विपरीत (उल्टा फल देनेवाला) होता है। जो भ्रष्टाचारी है उस को इस लोक या परलोक—उभय लोक—में थोड़ी सी भी शान्ति नहीं मिल सकती। वह (आंतरिक तथा बाह्य) दोनों प्रकार के कष्टों का भोग बन जाता है।

(५०) जैसे भोग रस की लोलुप (मांस खानेवाली) पक्षिणी स्वयं दूसरे हिंसक पक्षी द्वारा पकड़ी जाकर खूब ही परि-ताप पाती है वैसे ही दुराचारी तथा स्वच्छंदी साधु जिने-श्वर देवों के इस मार्ग की विराधना करके अन्त में बहुत ही पश्चात्ताप करता है।

(५१) [illegible] सुन्दर [illegible] इस मधुर [illegible] दुराचारियों के [illegible] महातपस्वी मुनियों के [illegible]

(५२) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक चारित्र के गुणों से भरपूर सर्वश्रेष्ठ संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते हैं तथा पूर्वसंचित कर्मों का नाश कर अन्त में सर्वोत्तम तथा अक्षय ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं।

(५३) इस प्रकार कर्मशत्रुओं के घोर शत्रु, दाँत, महातपस्वी, विपुल यशस्वी, दृढ़व्रती, महामुनीश्वर अनाथी ने सर्व निर्ग्रंथ मुनिका महाव्रत नामक अध्ययन अति विस्तार से श्रेणिक महाराज को सुनाया।

(५४) सनाथता के सच्चे अर्थ को सुनकर श्रेणिक महाराज अत्यंत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर कहा— हे भगवन! आपने मुझे सच्ची अनाथता का स्वरूप [illegible] ही सुन्दरता के साथ समझा दिया।

(५५) हे महर्षि! आपका मानव जन्म पाना धन्य है! आपकी यह दिव्य कांति, देदीप्यमान ओजस्, शान्त प्रभाव और उज्ज्वल सौम्यता धन्य है। जिनेश्वर भगवान के मार्ग में चलनेवाले सचमुच आप ही सनाथ तथा सबांधव हैं।

(५६) हे संयमिन्! अनाथ जीवों के तुम ही नाथ हो! सब प्राणियों के आप ही रक्षक हो! हे भाग्यवन्त महापुरुष! मैं आपसे क्षमा [illegible] हूँ। आपसे क्षमा मांगता हूँ और [illegible] का इच्छुक हूँ।

टिप्पणी – [illegible] दूर कर आत्मकल्याण [illegible] को स्वयं [illegible] है। यह [illegible] स्वयं [illegible] सकता है आशय यह है कि वह सभी [illegible] का [illegible] बन सकता है।

(५७) हे संयमिन् ! आप के पूर्वाश्रम का वृत्तान्त आपको पुनः पुनः पूंछ कर, आपके ध्यान में भंग डालकर और भोग भोगने की अयोग्य सलाह देकर मैंने आपका जो अपराध किया है उसकी मैं आपसे पुनः क्षमा मांगता हूँ।

(५८) राजाओं में सिंह के समान ऐसे राजकेशरी महाराजा श्रेणिक ने इस प्रकार परम भक्तिपूर्वक उस अनगारसिंह की स्तुति की और तबसे वे विशुद्ध चित्तपूर्वक अपने अन्तःपुर की (सब रानियों, तथा दासीदासों) स्वजनों तथा सकल कुटुम्बी जनों सहित जैन धर्मानुयायी हुए।

टिप्पणी—श्रेणिक महाराज पहिले बौद्धधर्मी थे किन्तु अनाथी मुनि के प्रबल प्रभाव से आकर्षित होकर वे जैन धर्मानुयायी बने थे ऐसी परंपरानुसार मान्यता है।

(५९) मुनीश्वर के अनुपम इस समागम से उनका रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। अन्त में अनाथी मुनि की प्रदक्षिणा देकर तथा शिरसा वंदन कर वे अपने स्थान को पधारे।

(६०) तीन गुप्तियों से गुप्त, तथा तीन दंडों (मन दंड, वचन दंड, तथा काय दंड) से विरक्त, गुणों की खान ऐसे अनाथी मुनि अनासक्त भाव से निर्द्वन्द्व पक्षी की तरह अप्रतिबद्ध विहार करते इस पृथ्वी पर सुख समाधि से विचरने लगे।

टिप्पणी— [illegible] से ही अनाथता है। आदर्श त्याग में ही सनाथता है [illegible] से अनाथता है। भोगों का प्रसंग करने से अनाथता है और इच्छा तथा वासना की परतन्त्रता में भी अनाथता है। अना-

थता को छोड़कर सनाथ होना—अपने आपही अपना मित्र बनना ये सब प्रत्येक मुमुक्षु के कर्तव्य हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'महानिर्ग्रंथ' नामक बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

समुद्रपालीय

समुद्रपाल का जीवन

२१

बोया हुआ बीज कभी व्यर्थ नहीं जाता। आज नहीं तो कल—कभी न कभी वह उगेगा ही। शुभ बोकर शुभ पाना तथा बाद में शुद्ध होना—यही तो अपने जीवन का उद्देश्य है।

समुद्रपाल ने पूर्वभव में शुभ बोकर शुभस्थान में संयोजित होकर मनवांछित साधन पाये। उसने उनको खूब भोगा भी और अन्त में उनका त्याग भी किया सही परंतु उसका हेतु कुछ दूसरा ही था। और हेतु की सिद्धि के लिये ही—मानों फांसी के तख्ते पर जाते हुए चोर को देखा ही था कि उसको देखते ही उसकी आंखें खुल गईं। मात्र बाह्य वस्तु पर ही नहीं किन्तु वस्तु के परिणाम पर भी उसकी अन्तर्दृष्टि जा पहुंची। बोया हुआ अब उदित हुआ, संस्कार जागृत हुए, पवित्र होने की भावना बलवती हुई और इस समर्थ आत्मा ने अपनी साधना पूरी की।

भगवान बोले—

(१) चम्पा नाम की नगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जाति का वणिक और महाप्रभु भगवान महावीर का श्रावक शिष्य था।

(२) वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों (शास्त्रों) में बहुत कुशल पंडित था। एक बार व्यापार करने के लिये वह जहाज द्वारा पिहुण्ड नामक नगर में आया।

टिप्पणी—इस पिहुण्डनगर में वह बहुत वर्षों तक रहा था और वहाँ उसका व्यापार भी खूब चमक उठा था। तथा वहाँ के एक वणिक की स्वरूपवती कन्याके साथ उसने अपना विवाह किया था। अन्य ग्रन्थों में यह कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। जिनको जानना हो वे उन्हें पढ़ लेवें। यहाँ तो केवल प्रसंग सम्बन्धी भाग दिया है।

(३) पिहुंड नगर में व्यापारी तरीके रहते हुए उसके साथ किसी दूसरे वणिक ने अपनी पुत्री ब्याह दी। बहुत दिनों के बाद वह गर्भवती हुई और उस गर्भवती पत्नी को साथ ले कर अब वह व्यापारी, बहुत दिन पीछे देखने की इच्छा से अपने देश आने के लिये रवाना हुआ।

(४) वे जहाज द्वारा आ रहे थे। पालित की आसन्न प्रसवा स्त्री ने समुद्र में ही पुत्र प्रसव किया और समुद्र में पैदा होने के कारण उस बालक का नाम समुद्रपाल रक्खा गया था।

(५) पालित अपने नवजात पुत्र तथा स्त्री के साथ सकुशल चंपा

(१६) मनुष्यों के तरह तरह के अभिप्राय होते हैं (इसलिये यदि कोई मेरी निंदा करता है तो यह उसके मन की बात है इसमें मेरी क्या बुराई है।) इस प्रकार वह अपने मन को सान्त्वना दे। मनुष्य, पशु अथवा देव द्वारा किये गये उपसर्गों को शांतिपूर्वक सहन करे।

टिप्पणी—यहाँ लोक रुचि तथा लोक मानस (लोगों के हृदय विचार) को पहिचानने तथा समभाव से उसका समन्वय (अनु-योग) करना योग्य बता कर त्यागी का कर्तव्य क्या है उसका निर्देश किया है। इस प्रकार समुद्रपाल मुनि विचर किया करते थे।

(१७) जब दुःसह परिषह आते हैं तब कायर साधक शिथिल हो जाते हैं किन्तु युद्धभूमि में सब से आगे रहने वाले हाथी की तरह वे भिक्षु (समुद्रपाल मुनि) कुछ भी खिन्न नहीं होते थे।

(१८) उसी प्रकार से आदर्श संयमी ठंडी, गर्मी, डांसमच्छर आदि परिषहों को समभाव (मनमें विकार लाये बिना) पूर्वक सहन करे और उन परिषहों को अपने पूर्वकर्मों का परिणाम मानकर उन्हें सहकर कर्मों का नाश करे।

(१९) विचक्षण साधु हमेशा राग, द्वेष तथा मोह को छोड़ जिस तरह वायु से मेरु नहीं कांपता उसी तरह परिषहों से कांपे नहीं (भयभीत न हों) किन्तु मन को वश में रखकर सब कुछ समभावपूर्वक शान्ति से सहते हैं।

(२०) भिक्षु कभी गर्विष्ठ न हो और न कभी कायर ही बने कभी पूजा या निंदा की इच्छा न करे किन्तु सरल

मुनि की तरह सरल भाव धारण करे और राग से विरक्त होकर (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र द्वारा) मोक्षमार्ग की उपासना करे।

(२१) साधु को यदि कभी संयम में अरुचि अथवा असंयम में रुचि पैदा हो तो उनको दूर करे। आसक्ति भाव से दूर रहे और आत्मचिंतन में लीन रहे। शोक, ममता, तथा परिग्रह की तृष्णा छोड़ कर समाधि की प्राप्ति कर परमार्थ पद में स्थिर हो।

(२२) इस तरह समुद्रपाल योगीश्वर आत्मरक्षक तथा प्राणीरक्षक बनकर उपलेप रहित तथा परनिमित्तक (दूसरों के निमित्त बनाये गये) एकांत स्थानों में विचरते थे तथा विपुल यशस्वी महर्षियों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था उसीका वे भी अनुसरण करते थे। ऐसा करते हुए उनने उपसर्गों तथा परिषहों को शान्तिपूर्वक सहन किया।

(२३) ऐसे यशस्वी तथा ज्ञानी समुद्रपाल महर्षि निरंतर ज्ञान मार्ग में आगे २ बढ़ते गये तथा उत्तम धर्म (संयम धर्म) का पालन कर अन्त में केवलज्ञान रूपी अनन्त लक्ष्मी के स्वामी हुए और आकाशमंडल में जैसे सूर्य शोभित होता है वैसे ही इस महीमंडल में अपने आत्मप्रकाश से दीप्त होने लगे।

(२४) पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों को नाश कर शरीर के मोह से वे सब प्रकार से छूट गये। शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए और इस संसार समुद्र के पार जाकर वे महामुनि समुद्रपाल अपुनरागति (वह गति जहां

जाकर फिर लौटना न पड़े) अर्थात् मोक्ष गति को प्रा
हुए।

टिप्पणी—शैलेशी अवस्था अर्थात् अडोल अवस्था। जैनदर्शन में ऐस
स्थिति निष्कर्मा योगीश्वर की बताई है और इस उच्च दशा को प्र
होकर तत्क्षण ही वे आत्मसिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

सरल भाव, तितिक्षा, निरभिमानिता, अनासक्ति, निंदा
प्रशंसा में समभाव, प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव, एकांत वृत्ति, तथा सत
अप्रमत्तता—ये आठ गुण त्यागधर्म रूपी इमारत की नींव हैं।
नींव जितनी दृढ़ तथा मजबूत होगी उतना ही त्यागी जीवन उ
तथा सुवासित होगा। इस सुवास से अनन्त भवों की वासनाओं
दुर्गंधि नष्टभ्रष्ट हो जाती है और आत्मा ऊँची होते होते अन्ति
ध्येय को प्राप्त कर लेती है।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस प्रकार 'समुद्रपालीय' नामक इक्कीसवाँ अध्ययन
समाप्त हुआ।

रथनेमीय

रथनेमि संबंधी

२२

शरीर, संपत्ति तथा साधन ये सब शुभकर्म (पूर्व पुण्य) के उदय से ही मिलते हैं। यदि पुण्यानुबंधी (पुण्य का वह फल जिसका पुण्य कार्यों में ही व्यय हो), पुण्य होगा तो प्राप्त साधनों का उपयोग सन्मार्ग में ही होगा तथा वे उपादान में भी सहकारी होंगे।

शुद्ध उपादान अर्थात् जीवात्मा की उन्नत दशा। ऐसी उन्नत दशावाली आत्मा भोगों के प्रबल प्रलोभनों में पड़नेपर भी केवल छोटा सा निमित्त मिलते ही आसानी से छूट जाता है।

नेमिनाथ कृष्ण वासुदेव के चचेरे भाई थे। पूर्वभव के प्रबल पुरुषार्थ से उनका उपादान शुद्ध हुआ था। उनका आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल था। इससे भी अधिक उन्नत उसे जाना था इसीलिये वह इस उत्तम राजकुल में मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुआ था।

यौवनपूर्ण सर्वांग सौम्य शरीर तथा विपुल समृद्धि के

स्वामी होने पर भी उनका मन उसमें आसक्त न था किन्तु कृष्ण महाराज के प्रति आग्रहवशात् उनकी सगाई उग्रसेन महाराज की रंभा के समान सुन्दरी पुत्री राजीमती के साथ की गई।

भरपूर ठाठबाट से समस्त यादवकुल के साथ वे कुमार विवाह के लिये चले। रास्ते में बाड़े में बंद किये हुए पशुओं की पुकार सुनकर उनने अपने सारथी से पूंछा कि ये बिचारे क्यों दुःखी हो रहे हैं? सारथी ने कहाः—प्रभो! आपके विवाह में आये हुए मेहमानों के भोजन के लिये ये बाड़े में बंद कर रक्खे गये हैं।

अरे, रे! मेरे विवाह के लिये यह घोर हिंसा! समझदार को सिर्फ इशारा ही काफ़ी होता है। सारथी के एक वाक्य ने राजकुमार के सामने 'मेरा, विवाह, ये दीन निर्दोष पशु, इन का बलिदान, आत्मा, आत्मा की शक्ति, संसार और उसके विषयों का परिणाम' आदि सभी का मूर्तिमंत चित्र उपस्थित कर दिया। एक क्षण में ही क्या से क्या हो गया! विवाह के हर्ष से प्रफुल्लित मुखारविंद वैराग्य के ओजस से कुम्हला गया। जिसकी किसी को भी कल्पना तक न थी वह सामने आकर खड़ा हो गया। राजकुमार विवाह किये बिना ही वहीं से लौट पड़े। कंकण, मौर आदि विवाह के चिन्ह रथ ही में छोड़ दिये और पूर्ण युवावस्था में ही राजपाट, भोग-विलास आदि सब सांसारिक वैभवों को छोड़ कर वे महायोगी बन गये।

एक छोटा सा विचार, एक क्षुद्र घटना कैसा अजब परिवर्तन कर डालता है! भाविक आत्मा एक छोटे से छोटा निमित्त

पाकर किस प्रकार सावधान हो जाती है! और ऐसी सावधान आत्मा क्या नहीं कर सकती आदि के आदर्श दृष्टांत इस अध्ययन में वर्णित हैं।

भगवान बोले—

(१) पूर्वकाल में, शौर्यपुर (सौरीपुर) नामक नगर में राज लक्षणों से युक्त तथा महान ऋद्धिमान वसुदेव नामका राजा हो गया है।

(२) इस राजा वसुदेव के देवकी तथा रोहिणी नामकी दो रानियां थीं। इनमें से रोहिणी के बलभद्र (बलदेव) तथा देवकी के कृष्ण वासुदेव ये दो सुन्दर पुत्र थे।

(३) उसी सौरीपुर नगर में एक दूसरे महान ऋद्धिमान तथा राज लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामके राजा रहते थे।

(४) इनके शिवा नामकी रानी थी और उसके उदर से महायशस्वी, समस्त लोक का स्वामी, इन्द्रियों के दमन करने वालों में श्रेष्ठ अरिष्टनेमि नामका भाग्यवान पुत्र उत्पन्न हुआ था।

(५) वह अरिष्टनेमि शौर्य, गम्भीर आदि गुणों से तथा सुस्वर से युक्त थे तथा उनका शरीर स्वस्तिक, शंख, चक्र, गदा, आदि एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त था। उनके गोत्र का नाम गौतम [illegible]

(६) वे वज्रऋषभनाराचसंहनन [illegible] समचतुरस्र संस्थान (पांवों नख से शिख शरीर का [illegible]) के धारक थे। उनका उदर मत्स्य के समान [illegible] उन [illegible]

के साथ विवाह करने के लिये श्रीकृष्ण महाराज ने राजीमती नाम की कन्या की मंगनी की थी।

टिप्पणी—संघयण (संहनन) अर्थात् शरीर का गठन। गठन की रीति से शरीर पांच प्रकार के होते हैं और उनमें से वज्रऋषभनाराच संघयण सबसे श्रेष्ठ होता है। यह शरीर इतना तो मजबूत होता है कि महापीड़ा को भी वह आसानी से सह सकता है। नेमिनाथ बाल्यकाल से ही सुसंस्कारी थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की उनकी लेशमात्र भी इच्छा न थी। वे तो वैराग्य में डूबे हुए थे। परन्तु अपने चचेरे भाई कृष्ण महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके चुप रहे। उस मौन का "मौन अर्धसम्मति" के अनुसार यथेष्ट मतलब लेकर कृष्ण महाराज ने उग्रसेन महाराजा से उनकी रूपवती कन्या राजीमती की मंगनी की।

(७) यह राजीमती कन्या भी उत्तम कुल के राजा उग्रसेन की पुत्री थी। वह सुशीला, सुनयना, तथा स्त्रियों के सर्वोत्तम लक्षणों से युक्त थी। उसकी कांति बिजली जैसी दीप्तिमान थी।

(८) (जब कृष्ण महाराज ने उसकी मंगनी की तब) उसके पिता ने विपुल समृद्धिशाली वासुदेव को सन्देश भे[जा] कि यदि कुमार श्री नेमिनाथ विवाह के लिये य[हां] पधारेंगे तो मैं अपनी कन्या उनको अवश्य ब्याह दूंगा।

टिप्पणी—उन दिनों क्षत्रिय कुल में ऐसा रिवाज था (और यह रिवाज अब भी महाराष्ट्र में बहुत जगह प्रचलित है) कि वधू के सम्बन्धी उसको लेकर वर राजा के नगर में आ जाते थे और मण्डप रच कर बड़ी धूम धाम के साथ विवाह करते थे। कि[न्तु] किन्हीं राज कुटुम्बों में ऐसा रिवाज था कि वधू का विवाह वरा[त] के बदले उसकी तलवार या ऐसे ही किसी अन्य चिन्ह के साथ क[र]

दिया जाता था। इससे ऐसा मालूम होता है कि उग्रसेन ने यह एक नये प्रकार की नीति की थी।

(९) नेमिराज को नियत तिथि पर उत्तम औषधियों (सुगन्धित उबटनों) का लेप किया गया और अनेक मंगलाचारों के साथ उनके माथे पर मंगल तिलक भी लगाया गया। इस के बाद उन्हें उत्तम प्रकार के वस्त्र पहिनाये गये तथा उन्हें हार, कण्ठा, कंकण आदि रत्न जटित उत्तम प्रकार के आभूषणों से विभूषित किया।

(१०) वासुदेव राजा के ४२ लाख हाथियों में से सबसे बड़े मदोन्मत्त गन्धहस्ति पर वे आरूढ़ हुए और जैसे मस्तक पर चूड़ामणि शोभित होता है वैसे ही उस हाथी पर आरूढ़ वे शोभित होते थे।

(११) उनके सिर पर उत्तम छत्र लटक रहा था और उनके दायें बायें दोनों तरफ चंवर ढुल रहे थे और दशा, दशार्ह आदि सब यादव उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे।

(१२) उनके साथ में हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल इन चारों प्रकारों की सुव्यवस्थित सुसज्जित सेना थी। उस समय भिन्न भिन्न बाजों के दिव्य तथा गगनस्पर्शी शब्द से तमाम आकाश गूंज रहा था।

(१३) इस तरह सर्वोत्तम समृद्धि तथा शरीर की उत्तम कान्ति से शोभित वे यादवकुलभूषण नेमीश्वर अपने घर से विवाह के लिये बाहर निकले।

(१४) अपने श्वसुर गृह के लग्न मण्डप में पहुँचने के पहिले ही रास्ते में जाते जाते बाड़ तथा पिंजरों में बन्द किये

हुए दुःखी तथा मृत्यु के भय से पीड़ित पशु पक्षियों को उनने सामने देखा।

टिप्पणी—ये जानवर विवाह में आये हुए मेहमानों के भोजन के लिये रक्खे गये थे क्योंकि उन दिनों बहुत से अजैन क्षत्रिय मांसाहार करते थे।

(१५) जिनके मांस से भोजन होने वाला था ऐसे मृत्यु के मुख में पहुँचे हुए उन प्राणियों को देख कर वे बुद्धिमान नेमिनाथ सारथी को लक्ष्य करके इस प्रकार बोले:—

(१६) सुख के इच्छुक इन प्राणियों को बाड़े और पिंजरों में क्यों बन्द कर रक्खा है?

(१७) यह प्रश्न सुन कर सारथी ने कहा—"प्रभो! इन सब निर्दोष प्राणियों को आपके विवाह में आये हुये लोगों को जिमाने के लिये यहाँ बन्द कर रक्खा है।"

(१८) "आपके विवाह के कारण इतने जीवों की हिंसा"—यह वचन सुन कर सब प्राणियों पर असीम अनुकम्पा के धारक बुद्धिमान नेमिराज बड़े ही सोचविचार में पड़ गये।

(१९) यदि केवल मेरे ही कारण से ये असंख्य निर्दोष जीव मारे जाते हों तो ऐसी वस्तु मेरे लिये इस लोक तथा परलोक दोनों में ही लेशमात्र भी कल्याणकारी नहीं है।

टिप्पणी—अनुकम्पा पूर्ण के लिए प्रभाव से उनके हृदय में [illegible] [illegible]। [illegible] उनको यह विचार हुआ कि विवाह जैसे [illegible] [illegible] दिया! [illegible] [illegible] (भोग) और क्या दूसरों के दुःखों से [illegible]

टिप्पणी—जैन धर्मानुसार नेमिनाथ चौबीस तीर्थंकरों में से बाईसवें तीर्थंकर हैं। अनेक जन्मों में लगातार पुरुषार्थ करते रहने से ही तीर्थंकर पद मिलता है। जिस समय तीर्थंकर भगवान अभिनिष्क्रमण करते (दीक्षा लेते) हैं उस समय देवों में भी प्रधान देव वहाँ आकर्षित होकर उपस्थित होते हैं। उन्हें लोकान्तिक देव कहते हैं।

(२२) इस प्रकार अनेक देवों तथा मनुष्यों के परिवारों से घिरे हुए वे नेमीश्वर रत्न की पालकी पर सवार हुए और द्वारका नगरी (अपने निवासस्थान) से निकल कर रैवत (गिरनार) पर्वत के उद्यान में गये।

(२३) उद्यान में पहुँच कर वे देवनिर्मित पालकी से उतरे और एक हजार साधकों के साथ उनने चित्रानक्षत्र में दीक्षा अंगीकार की।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण के ८ पुत्र, बलदेव के ०२ पुत्र, श्रीकृष्ण के ५११ भाई, उग्रसेन के ८ पुत्र, नेमिनाथ के २८ भाई, देवसेन मुनि आदि १०० तथा २१० यादव पुत्र, ८ बड़े राजा, पुत्र सहित अक्षोभ और उनके इस तरह सब मिलकर १००० साधकों के साथ जिस नक्षत्र में भगवान नेमिनाथ ने दीक्षा धारण की थी।

(२४) पालकी में से उतर कर दीक्षा धारण करते समय प्रभु ने हाथ से अपने सुगंधमय, सुकोमल घुंघराले बालों का पंचमुष्टि लुंच किया तथा समाधिपूर्वक साधुत्व अंगीकार किया।

(२५) जितेन्द्रिय तथा मुंडित हुए उनको देखकर श्रीकृष्ण [illegible] ने कहा — हे दमीश्वर ! आप अपने वांछित [illegible] (मुक्ति) को शीघ्र प्राप्त करो।

(२६) और ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र से तथा क्षमा, निर्लोभता आदि गुणों के द्वारा नित्य आगे आगे बढ़ते रहो।

टिप्पणी—ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र इन तीन की पूर्ण प्राप्ति होने से जैनधर्म मुक्ति होना मानता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा की पहिचान दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन और चारित्र का अर्थ आत्मरमणता है। इस त्रिपुटी की तन्मयता की ज्यों २ वृद्धि होती जाती है त्यों २ कर्मों के बन्धन ढीले पड़ते जाते हैं और जब आत्मा कर्मों से सर्वथा अलिप्त हो जाता है इस स्थिति को मुक्ति कहते हैं।

(२७) इस प्रकार बलभद्र, कृष्ण महाराज, यादव तथा अन्य नगरनिवासी जन अरिष्टनेमि को प्रणाम कर फिर वहाँ से द्वारिका नगरी में आये।

(२८) इस तरह वह राजकन्या राजीमती, अरिष्टनेमि के यकायक दीक्षा धारण के समाचार सुनकर हास्य तथा आनन्द से रहित होकर शोक की अधिकता से मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।

(२९) होश आने पर राजीमती विचार करने लगी कि युवान राजकुमार ने तो मुझे त्याग दिया और राजपाट तथा भोग सुख छोड़कर तथा दीक्षा धारण कर वे योगी बन गए और मैं अभी यहीं (घर ही में) हूँ। मेरे जीवन को धिक्कार है। मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिए—इसीमें मेरा कल्याण है।

(३०) इसके बाद पूर्ण वैराग्य से प्रेरित होकर उन धैर्यशील राजीमती ने भौंरों के समान काले तथा कंघी से काढ़े

हुए अपने नरम केशों को स्वयमेव लुंचन कर दीक्षा धारण की।

(३१) कृष्ण वासुदेव ने मुंडित तथा जितेन्द्रिय राजीमती को आशीर्वाद दिया :—"हे पुत्री ! इस भयंकर संसार को शीघ्र पार करो।"

(३२) जब ब्रह्मचारिणी तथा विदुषी राजीमती ने दीक्षा ली थी तब उनके साथ उनकी बहुत सी सहेलियों तथा सेविकाओं ने दीक्षा धारण की।

(३३) एक बार गिरनार पर्वत पर जाते हुए, मार्ग में बहुत वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र पानी में तरबतर हो गये और अंधकार के घिर आने से वे पास की एक गुफा में खड़ी हो गईं।

टिप्पणी—अकस्मात से जिस गुफा में जाकर राजीमती खड़ी हुई उसीमें समुद्रविजय के पुत्र राजकुमार रथनेमि, जिनने पूर्व और में दीक्षा ली थी, वे भी ध्यान धरे बैठे हुए थे।

(३४) गुफा में कोई नहीं है ऐसा अनुमानकर तथा अन्धकार के कारण राजीमती अपने भींजे हुए कपड़ों को उतारने लगी और बिलकुल नग्न होकर उनको सुखाने लगी। इस दृश्य से रथनेमि का चित्त विषयाकुल हो गया। इसी समय राजीमती की दृष्टि भी उस पर पड़ी।

टिप्पणी—एकान्त अति भयंकर वस्तु है। आत्मा में बीज रूप में गिरी हुई वासनाएं एकान्त देखकर, राख में छिपी हुई आग की तरह फिर चमकने लगती हैं, फिर उसमें स्त्री का और वह भी नग्न-स्त्री का सहवास तो अच्छे योगी को भी चलायमान कर सकता है। और

तपस्वी रथनेमि केवल एक छोटे से निमित्त से क्षणभर में नीचे गिर पड़ता है !

(३५) (रथनेमि को देखते ही) एकान्त में उन संयमी को देखकर राजीमती भयभीत होगई। (जाने बिना, एक मुनि के सामने नग्न होगई इस भय से) उनकी देह कांपने लगी और अपने दोनों हाथों से गुह्यांगों को छिपा कर वे नीचे बैठ गईं।

टिप्पणी—वस्त्र दूर पर सूख रहे थे। स्थल भी एकान्त था। स्त्रीजातिसुलभ लज्जा तथा भय के आवेगों का द्वंद (युद्ध) चल रहा था। इस समय मर्कटबद्ध आसन से बैठ कर उनने दोनों हाथों से अपने गुह्य अङ्ग छिपा लिये।

(३६) उसी समय समुद्रविजय के अंगजात (पुत्र) राजकुमार रथनेमि राजीमति को भयभीत देखकर इस तरह बोले:—

(३७) हे सरले! मैं रथनेमि हूँ। हे रूपवती ! हे मंजुभाषिणी! मुझ से तुझे लेशमात्र भी दुःख नहीं पहुँचेगा। हे कोमलांगि ! आप मुझे सेवन करो।

(३८) यह मनुष्य भव दुर्लभ है, इसलिये चलो, हम दोनों भोगों को भोगें। उनसे तृप्त होने के बाद, भुक्तभोगी होकर फिर हम दोनों जिनमार्ग का अनुसरण करेंगे (संयम ग्रहण करेंगे)।

(३९) इस प्रकार संयम में कायर बने हुए तथा विकारों को जीतने के उद्योग में बिलकुल निष्फल हुए उस रथनेमि को देखकर राजीमती होश में आई। स्त्रीशक्ति से अपनी

आत्मा को उन्नत बनाकर उसने उसी समय वस्त्रों को ले लिया और अपना शरीर ढँक लिया।

(४०) अपनी प्रतिज्ञा तथा व्रत में दृढ़ होकर तथा अपनी जाति, कुल, तथा शील का रक्षण करते हुए उस राजकन्या ने रथनेमि को इस प्रकार उत्तर दिया:—

(४१) यदि कदाचित् तू रूप में कामदेव भी होता, लीला (हाव भाव) में नलकुबेर होता अथवा साक्षात् शक्रेन्द्र ही क्यों न होता तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती।

अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित अग्नि में जल कर मर जाना पसंद करते हैं किन्तु उगले हुए विष को पुनः पीना पसंद नहीं करते।

(४२) हे अपयश के इच्छुक! तुझे धिक्कार है कि तू वासनामय जीवन के लिये वमन किये हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करता है। ऐसे पतित जीवन की अपेक्षा तो तेरा मर जाना बहुत अच्छा है।

(४३) मैं भोजकविष्णु की पौत्री तथा महाराज उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम अंधकविष्णु के पौत्र तथा समुद्रविजय महाराज के पुत्र हो। देखो! हम दोनों गंधनकुल के सर्प न बनें! हे संयमीश्वर! निश्चल होकर संयम में स्थिर होओ।

(४४) हे मुनि! जिस किसी भी स्त्री को देखकर यदि तुम इस तरह कामभोगित हो जाया करोगे तो समुद्र के किनारे पर खड़ा हुआ हड नाम का वृक्ष जैसे हवा के एक ही झोंके में गिर पड़ता है वैसे ही तुम्हारी आत्मा उच्च भूमिका (संयम) से नीचे गिर पड़ेगी।

(४५) जिस तरह ग्वाला गायों को चराता है किन्तु वह उनका मालिक नहीं है, वह तो केवल अपनी लाठी का ही धनी है; और जैसे भंडारी भंडार में रक्खे हुए धन धान्य का मालिक नहीं है किन्तु केवल चावीका ही धनी है; वैसे ही यदि तुम भी विषयाभिलाषी बने रहोगे तो हे रथनेमि! संयम पालने पर भी तुम चारित्र के नहीं किन्तु वेश मात्र के ही धनी रहोगे।

इसलिये हे रथनेमि! क्रोध, मान, माया और लोभ को दबाकर अपनी पांचों इन्द्रियों को वश कर, अपनी आत्मा को विषयभोगों से पीछे मोड़ो।

(४६) ब्रह्मचारिणी उस साध्वी के इन आत्मस्पर्शी अर्थपूर्ण वचनों को सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी वश में आता है वैसे ही रथनेमि शीघ्र ही वश में आगये और संयम धर्म में बराबर स्थिर हुए।

टिप्पणी—यहां हाथी का दृष्टान्त दिया है तो रथनेमि को हाथी, राजीमती को महावत तथा उनके उपदेश को अंकुश समझना चाहिये। रथनेमि का विकार क्षणमात्र में शान्त हो गया। आत्मभान जागृत [illegible]

[illegible] नहीं करता।

धन्य है [illegible]

[illegible]

(४७) रथनेमि उत्तम मन, वचन और काय से सुसंयमी तथा सर्वोत्कृष्ट जितेन्द्रिय हो गये और आजीवन अपने व्रत में अखंड रूप से दृढ़ रहे और जब तक जिये तब तक अपने चारित्र धर्म को शोभित करते रहे।

टिप्पणी—राजीमती का उपदेश उनके रोम रोम में व्याप्त होगया और वे अपने चारित्र धर्म में मेरु के समान अडोल अकंप स्थिर हुए।

(४८) इस प्रकार उग्र में उग्र तपश्चर्या करके ये दोनों जीव (राजीमती तथा रथनेमि) केवलज्ञानधारी हुए और सर्व कर्मों के बंधनों को तोड़ कर सर्वोत्तम गति—अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए।

(४९) जिस तरह उन पुरुष शिरोमणि रथनेमि ने अपने मन को विषयभोग में क्षणमात्र में हटा लिया वैसे ही विचक्षण तथा तत्त्वज्ञ पुरुष भी विषयभोगों से निवृत्त होकर सत् पुरुषार्थ में संलग्न हों।

टिप्पणी—कामाग्नि कोमल है, इसकी गति मंद है, इसका [illegible] के आधीन है, कामाग्नि का मूर्त [illegible] के कारणों से छिपा हुआ है—यह सब कुछ सच है, पर कब तक? जब तक उपयुक्त अवसर न आवे तब तक। अवसर के आते ही [illegible] के कारण छिपा [illegible] है, [illegible] कोमलता प्रचंडता के रूप में बदल जाती है [illegible] वह तेजस्वी सूर्य के समान चमचमाने लगती है। [illegible] होता है। पुरुषार्थ का [illegible] उभर आता है और अन्त में इसी अग्नि की विजय होती है। [illegible]

रथनेमि [illegible] के योगीश्वर थे, [illegible] थे, किन्तु आत्मा में [illegible] से रही हुई [illegible] के [illegible] को [illegible] करने के लिये इतना [illegible]

ज्ञान, ध्यान और वैराग्य अपूर्व था। हाथी को खींचने के लिये हाथी की ही जरूरत पड़ती है। अनंतकालीन वासनाओं के बोझों को नष्ट करने के लिये आत्मशक्ति का सूर्य अत्यंत प्रखर होना चाहिये। रथनेमि अभी तक उस कक्षा को प्राप्त नहीं हुए थे इसीलिये लेशमात्र निमित्त पाते ही वे डाँवाडोल हो गये।

इस प्रसंग में राजीमती का तीव्र तपोबल तथा निर्विकारिता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। ऐसे कठिन प्रसंग में उनका यह धैर्य तथा पराक्रम ये दोनों उनके सीमातीत आत्मबल के अकाट्य प्रमाण हैं।

रथनेमि भी पूर्वयोगी थे इसीलिये तो एक संकेत मात्र से अपने मार्ग पर आगये; वहाँ तो परिणाम क्या आता उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। उन्हें केवल एक संकेत की जरूरत थी और वह उन्हें राजीमती द्वारा मिल गया।

धन्य हो, धन्य हो, उस योगिनी और योगीश्वर को! प्रलोभन के प्रबल निमित्त में फंस जाने पर भी ये दोनों आत्माएं अडोल-अकंप रहीं और उत्तम आचार पर स्थिर रहकर दोनों ही आत्मज्योति में स्थिर हुईं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'रथनेमीय' नामक बाईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

केशिगौतमीय

केशिमुनि तथा गौतम का संवाद

२३

पांच महाव्रत—ये साधु के 'मूलगुण' कहलाते हैं आत्मोन्नति-के ये ही सच्चे साधन हैं। बाकी की दूसरी क्रियाएं 'उत्तर गुण' कहलाती हैं और उनका उद्देश मूलगुणों को पुष्ट करना है।

मूल उद्देश्य कर्मबंधन से मुक्त होना अथवा मोक्ष की सिद्धि (प्राप्ति) करना है और उस मार्ग में जाने के मूलभूत तत्वों में तो किसी काल में, किसी भी समयमें, किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता। सत्य सदैव त्रिकालाबाधित होता है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता।

किन्तु उत्तर गुणों तथा क्रियाओं के विधिविधानों में काल समय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुए हैं, होते हैं और होंगे भी। समयधर्म की आवाज की तरफ ध्यान दिये बिना चलते जाने में भय तथा हानि होने की संभावना है समयधर्म को पहिचान कर सरल मार्ग से केवल आत्मलक्ष्य

सामने रखकर गति करते जाने में ही सत्य की, धर्म की, तथा शासन की रक्षा अन्तर्हित है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर के समय की यह कथा है। भगवान महावीर ने समयधर्म को पहिचान कर साधुजीवन की चर्या में महान परिवर्तन किया था। पहिले से आती हुई थी पार्श्वनाथ की परंपरा में बहुत कुछ नवीनता ला दी थी तथा कठिन विधिविधान स्थापित कर जैनधर्म का पुनरुद्धार किया था। समयधर्म को बराबर पहिचानने के कारण ही जैनशासन की धर्मध्वजा तत्कालीन वेद तथा बौद्ध धर्मों के शिखर पर फरकने लगी थी।

भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा को माननेवाले केशिश्रमण सपरिवार विहार करते हुए श्रावस्तीनगरी में पधारे थे। उसी समय भगवान महावीर के गणधर गौतम भी सपरिवार वहां पधारे। दोनों समुदायों का मिलाप वहां हुआ। एक संघ के शिष्यों को दूसरे संघ के शिष्यों को एक ही धर्म किंतु दूसरी क्रिया पालते हुए देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। शिष्यों की शंका का निवारण करने के लिये दोनों ऋषिपुंगव (केशीमुनि तथा गौतम) मिले—भेटे। परस्पर विचारों का समन्वय किया और अन्त में वहीं पर केशीमुनीश्वर ने समयधर्म को स्वीकारा और भगवान महावीर की परंपरा में शामिल होकर जैनशासन का जयजयकार कराया।

भगवान बोले—

१ [illegible] सब पदार्थों [illegible] के [illegible] सूक्ष्म [illegible] के [illegible] पुरुषादानीय पार्श्वनाथ नाम के [illegible] जिनेश्वर हो गये हैं।

टिप्पणी—जब की यह घटना है उस समय भगवान महावीर का शासन प्रवर्त रहा था। भगवान महावीर के पहिले २३ तीर्थंकर—धर्म के पुनरुद्धारक पुरुष—और हो गये हैं। उनमें से २३वें तीर्थंकर का नाम पार्श्वनाथ है। भगवान पार्श्वनाथ की आत्मा तो बहुत पहिले ही सिद्धपद प्राप्त कर चुकी थी, इस समय मात्र उनके शिष्य आन्दोलन तथा उनका अनुयायी मंडल ही मौजूद था।

(२) लोकालोक के समस्त पदार्थों को अपने ज्ञानप्रदीप (ज्योति) के प्रकाश द्वारा प्रकट करनेवाले उन महाप्रभु के शिष्य, महायशस्वी तथा ज्ञान एवं चारित्र के पारगामी केशीकुमार नाम के श्रमण उस समय विद्यमान थे।

(३) वे केशीकुमार मुनि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानों के धारक थे। एक बार बहुत से शिष्यों के साथ ग्रामग्राम विचरते हुए वे श्रावस्तीनगरी में पधारे।

टिप्पणी—जैनदर्शन में ज्ञान की ५ श्रेणियाँ हैं :—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान तथा (५) केवलज्ञान। मतिज्ञान (अथवा मति अज्ञान) तथा श्रुतज्ञान (अथवा श्रुत अज्ञान)—ये दो ज्ञान तो प्राणिमात्र प्राणियों को तरतम (कमज्यादा) प्रमाण में होते हैं। शुद्ध ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान अशुद्ध अथवा विपर्यासवाला होता है उसे अज्ञान कहते हैं। सम्यक् अवबोध (जानना) इसका नाम मतिज्ञान है और इससे भी अधिक विशिष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान जिसको जितनी मात्रा में अधिक होगा उतना ही उसका बुद्धिवैभव भी अधिक होगा। अवधिज्ञान केवल उच्च कोटि के मनुष्यों तथा देवों को ही होता है और उसके द्वारा दूरस्थ पदार्थों की भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी पर्यायों को

(७) बारह अंगों के प्रखर ज्ञाता वे गौतम प्रभु भी बहुत से शिष्य समुदायके साथ ग्रामग्राम विचरते हुए उसी श्रावस्ती नगरी में पधारे।

टिप्पणी—अब भी इन १२ अंगों में से ११ अंग मौजूद हैं, केवल एक दृष्टिवाद नाम का अंग उपलब्ध नहीं है। इन अंगों में पूर्व तीर्थंकरों तथा भगवान महावीर के अनुभवी वचनामृतों का संग्रह किया गया है।

(८) उस नगरमंडल के समीप कोष्टक नाम का एक उद्यान था। वहाँ पर विशुद्ध स्थान तथा तृणादि की अचित शय्या की याचना कर उनने निवास किया।

(९) इस तरह श्रावस्तीनगरी में कुमार श्रमण केशीमुनि और महायशस्वी गौतम मुनि ये दोनों सुखपूर्वक तथा ध्यानमग्न समाधिपूर्वक रहते थे।

टिप्पणी—उन दिनों गाँव के बाहर उद्यानों में त्यागी पुरुष निवास करते थे और गाँव में भिक्षा माँगकर संयमी जीवन बिताते थे।

(१०) एक समय (भिक्षाचरी करने के निमित्त) निकले हुए उन दोनों के शिष्यसमुदाय को जो पूर्ण संयमी, तपस्वी, गुणी तथा जीवरक्षक (पूर्ण अहिंसक) था, एक ही धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेश एवं बाह्यक्रियाओं में अन्तर दिखाई देने से, एक दूसरे के मन में यह विचार (संदेह) उत्पन्न हुआ।

(११) भला यह धर्म कैसा है? और जो हम पालते हैं वह धर्म कैसा है? इनके आचारव्यवहार की क्रिया कैसी है और हमारी आचार क्रियाएँ कैसी हैं?

टिप्पणी—उस समय दोनों प्रकार के मुनि थे जिनमें से एक का नाम 'जिनकल्पी' तथा दूसरे का नाम 'स्थविरकल्पी' था। जिनकल्पी साधु देहाध्यास का सर्वथा त्याग कर केवल आत्मपरायण रहते थे। किंतु स्थविरकल्पियों का काम उनसे अधिक क्लिष्ट था क्योंकि उनको समाज के साथ २ मिल कर रहते हुए भी निरासक्त भाव से काम करने पड़ते थे तथा आत्मकल्याण के साथ ही साथ परकल्याण का इन दोनों हेतुओं की सिद्धि करते हुये आगे बढ़ना पड़ता था। इसलिये यद्यपि वे स्वल्प परिग्रह रखते थे फिर भी वे उसमें ममत्व नहीं रखते थे। वे परिग्रह रखते हुए भी जिनकल्पी की महान उन्नत आत्मा जैसी उज्ज्वलता तथा सावधानी (अप्रमत्त भाव) रखते थे।

(१४) केशीमुनि तथा गौतममुनि इन दोनों महापुरुषों ने अपने शिष्यों का यह संशय जानकर उसकी निवृत्ति के लिये सब शिष्यसमूह के साथ परस्पर समागम करने की इच्छा व्यक्त की।

टिप्पणी—केशीमुनि की अपेक्षा गौतम मुनि उमर में छोटे थे किन्तु ज्ञान में बड़े थे। उस समय गौतम मुनि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान इन चार ज्ञानों के धारी थे।

(१५) विनय, भक्ति तथा अवसर के ज्ञानी गौतमस्वामी अपने शिष्यसमुदाय सहित केशीमुनि (पार्श्वनाथ के अनुयायी हैं इसलिये) के कुल को बड़ा मान कर तिन्दुक वन में उनके सन्निकट स्वयं जाकर उपस्थित हुए।

टिप्पणी—भगवान पार्श्वनाथ भगवान महावीर के पहिले हुए हैं इसलिये उनके अनुयायी भी बड़े माने जायेंगे। इसीलिये ज्ञानवान होने पर भी केवल विनय पालन के लिये वे स्वयं वहां जाकर उपस्थित हुए। यही सच्चा ज्ञानपाचन का चिह्न है।

(१६) शिष्यसमुदाय सहित गौतमस्वामी को स्वयं आते हुए देख कर केशीकुमार हर्ष में फूले न समाये और वे उनका अत्यंत प्रेमपूर्वक स्वागत करने लगे।

टिप्पणी—वेश तथा समाचारी भिन्न २ होने पर भी जहां पर संभोग—साम्प्रदायिक व्यवहार—का भूत सवार न हुआ हो, जहां विशुद्ध प्रेम (स्वामीवात्सल्य) उछलता हो और सम्प्रदायजन्य कदाग्रह न हो वहां का वातावरण अत्यंत प्रेमाल् तथा विषमताशून्य हो इसमें आश्चर्य ही क्या है! अहा! वे क्षण धन्य हैं, वे पलें मुफल हैं, वे समय अपूर्व हैं जहां ऐसा सचा मिलन होता है! संत-समागम का ऐसा एक ही क्षण करोड़ों जन्मों के पापसमूह को जलाकर भस्म कर देता है।

(१७) श्रमण गौतम भगवान को आते देखकर उत्साहपूर्वक उनके अनुरूप तथा प्रासुक (अचित्त शाली धान, व्रीहि, कोदरी तथा राल नामकी वनस्पति) चार प्रकार के पराल (सूखी घास) तथा पाँचवें डाभ तथा तृण के आसन ले लेकर केशीमुनि तथा उनके शिष्यसमुदाय ने गौतममुनि और उनके शिष्यसमुदाय को उन पर बिठाया।

(१८) उस समय का दृश्य अनुपम दिखाई देता था। कुमार केशीश्रमण तथा महायशस्वी गौतममुनि ये दोनों महापुरुष वहां बैठे हुए सूर्य तथा चंद्रमा के समान शोभित हो रहे थे।

(१९) इस पारस्परिक प्रश्नोत्तररूप चर्चा का कौतूहल देखने के लिये मृग समान बहुत से अज्ञ भोले भाले अज्ञान साधु, बहुत से उत्सुक जन तथा बहुत से पाखंडी साधु भी वहाँ

उपस्थित थे और लाखों की संख्या में वहाँ गृहस्थ भी मौजूद थे।

(२०) (आकाश मार्ग में अदृश्य रूप से) देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर तथा अदृश्य अनेक भूत भी यह दृश्य देखने के लिये वहाँ इकट्ठे हुए थे।

(२१) इस समय सबसे पहले केशीमुनि ने गौतम से यह कहा— हे भाग्यवंत ! मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। उसके उत्तर में भगवान गौतम ने केशी महाराज को यह कहा—

(२२) हे भगवन ! जो कुछ आप पूछना चाहें वह आनंद के साथ पूछिये। इस प्रकार जब गौतममुनि ने केशीमुनि को आदरपूर्वक कहा तब अनुज्ञाप्राप्त केशी भगवान ने गौतम मुनि से यह प्रश्न पूछा:—

(२३) हे मुने ! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतरूप धर्म कहा है, किन्तु भगवान महावीर पाँच महाव्रतरूप धर्म कहते हैं।

टिप्पणी — [illegible] नहीं [illegible] किया है।

[illegible] को सिद्ध के लिये [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(२५) केशीमुनि के इस तरह प्रश्न पूछने के बाद गौतम मुनि ने उनको यह उत्तर दिया:—"शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही धर्म-तत्त्व का तथा परमार्थ का निश्चय किया जा सकता है।"

टिप्पणी—जब तक ऐसी शुद्ध तथा सरल बुद्धि (विचक्षणता) नहीं होती तब तक साधक, साध्य (लक्ष्य) की अपेक्षा साधन की ही तरफ विशेष झुका रहता है। इसीलिये महापुरुषों ने काल को देखकर ऐसी कठिन क्रियाओं का विधान किया है।

(२६) (२४ तीर्थंकरों में से) प्रथम तीर्थंकर (भगवान ऋषभ) के समय के मनुष्य बुद्धि में जड़ होने पर भी प्रकृति के सरल थे। और अन्तिम तीर्थंकर (भगवान महावीर) के समय के मनुष्य जड़ (बुद्धि का दुरुपयोग करनेवाले) तथा प्रकृति के कुटिल हैं। इन दोनों के बीच के तीर्थंकरों के समयों के जीव सरल बुद्धिवाले तथा प्राज्ञ थे। इसीलिये परिस्थिति को देखकर उसके अनुसार भगवान महावीर ने कठिन विधिविधान किये हैं।

(२७) ऋषभ प्रभु के अनुयायी पुरुषों को धर्म समझना कठिन होता था परन्तु समझने के बाद उसे धारण करने में सरल होते थे [illegible] किन्तु [illegible] अन्तिम तीर्थंकर [illegible] के अनुयायियों को धर्म समझना तो सरल है परन्तु [illegible] पालना कठिन है। यही कारण है कि इन दोनों भगवानों के समय में पंचमहाव्रत स्वरूप धर्म था और बीच के [illegible] तीर्थंकरों के समय में चार महाव्रतस्वरूप धर्म था।

उपस्थित थे और लाखों की संख्या में वहाँ गृहस्थ भी मौजूद थे।

(२०) (आकाश मार्ग में अदृश्य रूप से) देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर तथा अदृश्य अनेक भूत भी वह दृश्य देखने के लिये वहां इकट्ठे हुए थे।

(२१) उस समय सबसे पहले केशीमुनि ने गौतम से यह कहा— हे भाग्यवंत! मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। उसके उत्तर में भगवान गौतम ने केशी महाराज से यह कहा—

(२२) हे भगवन्! जो कुछ आप पूँछना चाहें वह आनंद के साथ पूँछिये। इस प्रकार जब गौतममुनि ने केशीमुनि को उदारतापूर्वक कहा तब अनुज्ञाप्राप्त केशी भगवान ने गौतम मुनि से यह प्रश्न पूछा:—

(२३) हे मुने! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतरूप धर्म कहा है; किन्तु भगवान महावीर पाँच महाव्रतरूप धर्म बताते हैं।

टिप्पणी—याम शब्द का अर्थ यहाँ महाव्रत किया है।

(२४) तो एक ही कार्य (मोक्षप्राप्ति) की सिद्धि के लिये निकले जिन इन दोनों (तीर्थंकरों द्वारा निरूपित धर्म) के ये भिन्न भिन्न वेश तथा भिन्न भिन्न आचार रखने का प्रयोजन क्या है? हे बुद्धिमान गौतम! इस एक ही मार्ग में दो प्रकार के विधिकर्म क्यों है? (इसमें आपको क्या संशय अथवा

टिप्पणी—समझने में कठिनता होने का कारण बुद्धि की मंदता (मंदता) है किन्तु चारित्र धारण करने की कठिनता का कारण तत्कालीन मनुष्यों में चारित्रशैथिल्य का बढ़ जाना था।

(२८) यह स्पष्ट उत्तर सुनकर केशीस्वामी बोले:—हे गौतम! आप की बुद्धि सुन्दर है। हमारी इस शंका का समाधान हो गया। अब मैं अपनी दूसरी शंका कहता हूँ, हे गौतम! आप उसका समाधान करो।

(२९) हे महामुने! भगवान महावीर ने साधु समुदाय को प्रमाणपूर्वक केवल सफेद वस्त्र ही पहिरने की आज्ञा दी है किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने तो विविध रंग के वस्त्र पहिरने की साधुओं को छूट दी है।

टिप्पणी—"अचेलक" शब्द का अर्थ कोई कोई "अवस्त्र अथवा वस्त्ररहित" करते हैं। यद्यपि सामान्यरीति से नञ् समास का अर्थ वस्त्ररहित किया जाता है और इस दृष्टि से यह अर्थ किया भी जा सकता है परन्तु उस काल में भी समस्त साधुसमुदाय वस्त्ररहित (दिगम्बर) न था। बहुत से दिगम्बर साधु थे बहुत से वस्त्रसहित साधु भी थे, क्योंकि भगवान महावीर ने वस्त्र की अपेक्षा आत्मगुणों को पुष्ट करने पर विशेष जोर दिया था। इसलिये यहां पर "नञ्" शब्द के छ अर्थों में से "ईषत् (अल्प)" अर्थ करना विशेष युक्तियुक्त है।

(३०) ये दोनों (प्रकार के) साधु एक ही उद्देश्य सिद्धि में लगे हुए हैं फिर भी इस प्रकार के प्रत्यक्ष जुदे २ वेश चिन्ह धारण करने का अन्तर क्यों रक्खा है? हे बुद्धिमान! क्या आपको इस विषय में शंका नहीं होती?

(३१) इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने के बाद गौतम मुनि ने केशी-मुनि को यह उत्तर दिया:—हे महामुने ! समय का खूब विज्ञानपूर्ण सूक्ष्म निरीक्षण कर तथा साधुओं के मानस (चित्तवृत्ति) को देखकर ही उन महापुरुषों ने इस प्रकार के भिन्न २ बाह्य धर्मसाधन रखने का विधान किया है।

टिप्पणी—भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य सरल स्वभावी तथा बुद्धिमान थे इसलिये वे विविध रंग के वस्त्रों को भी—वे केवल शरीर ढंकने के साधन हैं, शृंगार के लिये नहीं हैं—ऐसा मानकर अनासक्त भाव से उनका उपयोग कर सकते थे किन्तु भगवान महावीर ने देखा कि इस काल में पतन के बहुत से निमित्त मिलते रहते हैं, इसलिये निरासक्त रहना अति कठिन है, इसीलिये उनने मुनि को प्रमाणपूर्वक तथा सादा वेश रखने की आज्ञा दी है। (अर्थात् महापुरुषों ने यह सब कुछ सोचसमझ कर तथा समय देखकर ही किया है। यह भेद करना सकारण था, निष्कारण नहीं)

(३२) ऐसा सादा वेश रखने के कारण ये हैं—(१) इस समय लोक में भिन्न भिन्न प्रकार के विकल्पों तथा वेशों का प्रचार है। इस वेश को देख कर लोगों को यह विश्वास हो कि "यह जैन साधु है"; (२) साधु को भी इस वेश से यह हमेशा ध्यान रहे कि "मैं साधु हूँ" तथा (३) इस वेश द्वारा संयम निर्वाह सब से उत्त[illegible] से हो सकता है। लोक में वेश धारण [illegible] .योजन हैं।

टिप्पणी—"वेश" साध [illegible] .ाधन है। यह बाह्य साधन आंतरिक ज. [illegible] [illegible]त्मविकास में मददरूप हो बस इतना ही [illegible]

(३३) और साधु का वेश तो दुराचार न होने पावे इसकी सतत जागृति रखने के लिये व्यवहार नय मात्र एक साधन है; निश्चय नय से तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं। इन वास्तविक साधनों में तो भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर दोनों का एक ही मत है (मौलिकता में तो लेशमात्र भी अन्तर नहीं है)।

टिप्पणी—वेश भले ही भिन्न हो परन्तु तत्त्व में कुछ भी भेद नहीं। भिन्न वेश रखने का कारण वही है जो ऊपर लिखा है।

(३४) केशीस्वामी ने कहा—हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है (अर्थात् तुम बहुत अच्छा समन्वय कर सकते हो)। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा एक प्रश्न पूँछता हूँ, उसका भी हे गौतम ! तुम समाधान करो।

(३५) हे गौतम ! हजारों शत्रुओं के बीच में तुम रहते हो और वे सब तुम पर आक्रमण कर रहे हैं, फिर भी तुम उन सब को किस तरह जीत लेते हो ?

(३६) (गौतम ने कहा—) मैं मात्र एक (आत्मा) को ही जीतने का सतत प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि उस एक को जीतने से पांच (इंद्रियो) को और उन पाच (इंद्रियों) को जीतने से दस को और उन दस को जीत लेने पर सब शत्रु स्वयमेव जीत लिये जाते हैं।

(४०) इस संसार में बहुत से बिचारे जीव कर्मरूपी जाल से जकड़े हुए दिखाई देते हैं। इस परिस्थिति में हे मुनि! तुम किस प्रकार बंधन से रहित होकर वायु की तरह हलके होकर अप्रतिबंध (बिना रुकावट) विहार कर सकते हो?

(४१) (गौतम केशीमुनीश्वर को उत्तर देते हैं:—कि) हे मुने! शुद्ध उपायों से उन जालों (बंधनों) को तोड़कर मैं बंधन रहित होकर वायु की तरह अप्रतिबंध रूप से विचरता हूँ।

(४२) तब केशीमुनि ने गौतम से फिर प्रश्न किया:—हे गौतम! वे बंधन कौन से हैं? वे आप मुझे कहें। यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह जवाब दिया:—

(४३) हे महामुने! राग, द्वेष, मोह, परिग्रह तथा स्त्री, कुटुम्बी जन, आदि पर जो आसक्ति भाव हैं वे ही तीव्र, गाढ़े और भयंकर स्नेहबन्धन हैं। इन बन्धनों को तोड़कर जैन शासन के न्यायानुसार रहकर मैं अपना विकास करता हूँ और निर्द्वंद विहार करता हूँ।

(४४) यह उत्तर सुनकर केशीमुनि कहने लगे:—हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा प्रश्न करता हूँ उसका भी समाधान करो।

(४५) हे गौतम! हृदय के गहरे भागरूपी जमीन में एक बेल उगी है और उस बेल में विष के समान जहरीले फल लगे हैं। उस बेल का मूलोच्छेदन तुमने कैसे किया इस बात का जवाब मुझे दो।

(६२) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—"हे गौतम ! वह मार्ग कौनसा है ?" यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह उत्तर दिया—

(६३) कल्पित मतों में जो स्वच्छन्द-पूर्वक आचरण करते हैं वे सब पाखण्डी हैं। वे सब कुमार्ग पर भटक रहे हैं और वे अन्त तक भवसमुद्र में गोते खाते रहेंगे। कर्म के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हुए जिनेश्वरों ने सत्य का जो मार्ग बताया है वही उत्तम है।

(६४) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि बहुत उत्तम है। मेरे संशय को तुमने दूर कर दिया। मुझे एक दूसरी शंका है, कृपा कर उसका भी निरसन (समाधान) करो।

(६५) जल के महाप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को जो दुःख से बचानेवाला शरणरूप कौन है ? वह स्थान कौनसा है ? उस गति का नाम क्या है ? और आधार-स्वरूप वह द्वीप कौनसा है ?

(६६) और हे गौतम ! उस जल के महाप्रवाह में भी एक महाविस्तीर्ण द्वीप है जहां पानी के उस महाप्रवाह का आना जाना नहीं होता।

(६७) केशीमुनि ने गौतम से पूछा—हे मुने ! उस द्वीप का नाम क्या है सो कहो। यह सुनकर गौतम ने यह उत्तर दिया—

(६८) जरा (बुढ़ापा) तथा मरणरूपी जल के महाप्रवाह से इस संसार के सभी प्राणी बह रहे हैं। उनको [illegible]

स्थानरूप, अथवा गतिरूप या आधाररूप द्वीप जो कुछ भी कहो वह केवल एक धर्म ही है।

(६९) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुम से दूसरा एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, उसका आप समाधान करो।

(७०) एक महाप्रवाहवान् समुद्र में एक नाव चारों तरफ घूमती फिरती है। हे गौतम ! आप उस नाव पर बैठे हो, तो तुम पार कैसे उतरोगे ?

(७१) जिस नाव में छेद है वह पार न जाकर बीचही में डूब जाती है और उसमें बैठनेवालों को भी डुबा देती है। बिना छेद की नाव ही पार पहुँचाती है।

(७२) 'हे गौतम ! वह नाव कौनसी है ?' केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया:—

(७३) शरीररूपी नाव है, संसाररूपी समुद्र है और जीवरूपी नाविक (मल्लाह) है। उस संसाररूपी समुद्र को शरीर द्वारा महर्षि पुरुष ही तर जाते हैं।

टिप्पणी—शरीर यह नाव है इसलिये इसमें कहीं से भी छेद न हो जाय, अथवा यह टूटफूट न जाय–इसकी संभाल लेना तथा संयमपूर्वक बैठे हुए नाविक (आत्मा) को पार उतारना यह महर्षि पुरुषों का कर्तव्य है।

(७४) (केशीमुनि ने कहा:–) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा सन्देह दूर कर दिया। मुझे एक और शंका है, उसका भी आप समाधान करो।

(७५) इस समग्र लोक में फैले हुए घोर अंधकार में बहुत से प्राणी रुंधे पड़े हैं। इन सब प्राणियों को प्रकाश कौन देगा ?

(७६) (गौतम ने उत्तर दिया:—) समस्त लोक में प्रकाश देनेवाला जो सूर्य प्रकाशित होरहा है वही इस लोक के समस्त जीवों को प्रकाश देगा।

(७७) गौतम के इस उत्तर को सुनकर केशीमुनि ने फिर पूंछा:—"हे गौतम ! वह सूर्य आप किसको कहते हो ?" गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया:—

(७८) संसार के समस्त गाढ़ अंधकार का नाश कर अनन्त ज्योतियों से प्रकाशमान सर्वज्ञरूपी सूर्य ही इस समग्र लोक के प्राणियों को प्रकाश देगा।

टिप्पणी—जिन प्रबल आत्माओं का अज्ञान अंधकार नष्ट होगया है और जो सांसारिक सभी बंधनों से सर्वथा मुक्त हुए हैं ऐसे महापुरुष ही अपने अनुभव का मार्ग जगत् को बताकर उसे सब दुःखों से छुड़ा सकते हैं।

(७९) केशीमुनि ने कहा:—हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मेरे एक दूसरे प्रश्न का आप सामाधान करो। वह प्रश्न इस प्रकार है:—

(८०) हे मुने ! सांसारिक जीव शारीरिक तथा मानसिक दुःख से पीड़ित हो रहे हैं। उनके लिये कल्याणकारी, निर्भय, निरुपद्रव तथा पीड़ारहित कौनसा स्थान है ? क्या आप जानते हो।

(८७) उसी स्थान पर (भगवान महावीर के) पंच महाव्रतरूपी धर्म को भावपूर्वक स्वीकार किया और उस सुखमार्ग में गमन किया कि जिस मार्ग की प्ररूपणा प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर भगवानों ने की थी।

(८८) बाद में भी, जब तक श्रावस्तीनगरी में ये दोनों समुदाय रहे तब तक केशी तथा गौतम का समागम नित्यप्रति होता रहा और शास्त्रदृष्टि से किया हुआ शिक्षाव्रतादि का निर्णय उनके ज्ञान एवं चारित्र इन दोनों अंगों में वृद्धि कर हुआ।

टिप्पणी—केशी तथा गौतम इन दोनों गण के शिष्यों को यह शास्त्रार्थ तथा यह समागम बहुत लाभदायक हुआ क्योंकि शास्त्रार्थ करते हुए इन दोनों की उदार दृष्टि थी। दोनों में से किसी एक को भी कदाग्रह न था और इसीलिये शास्त्रार्थ भी सफल हुआ। कदाग्रह होता तो शास्त्र के बहाने से बहुत कुछ अनर्थ हो जाने की संभावना थी किन्तु सच्चे ज्ञानी सर्वदा कदाग्रह से दूर रहते हैं और सत्य वस्तु को, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते।

(८९) (इस शास्त्रार्थ से) समस्त परिषद को अत्यंत संतोष हुआ। सबों को सत्यमार्ग की झांकी हुई। श्रोताओं को भी सच्चे मार्ग का ज्ञान हुआ और वे सब इन दोनों महर्षियों की स्तुति प्रार्थना करने लगे। "केशीमुनि तथा गौतम ऋषि सदा जयवंत रहो" ऐसे आशीर्वचन कहते हुए सब देव, दानव और मनुष्य अपने २ स्थानों को गये।

समितियां

२४

संयम, त्याग, और तप—ये तीनों मुक्ति के क्रियात्मक साधन हैं। भवबंधनों से मुक्त करने में केवल ये तीन ही उपाय समर्थ हैं—अन्य कोई नहीं। मुक्तिप्राप्ति के लिये तो हम सभी उम्मेदवार हैं। यावन्मात्र प्राणियों को मोक्षमार्ग में आने का अधिकार है मात्र उसपर चलने की तैयारी होनी चाहिये।

इस अध्ययन में मुनिवरों के संयमी जीवन को पुष्ट करने वाली माताओं का वर्णन किया गया है फिर भी उनका अवलम्बन तो सभी मुमुक्षुओं के लिए एक सरीखा उपकारी है। सब कोई अपना क्षेत्र, काल, भाव तथा सामर्थ्य देखकर उनका विवेकपूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

भगवान बोले—

(१) जिनेश्वर देवों ने जिन पांच समितियों और तीन गुप्तियों का वर्णन किया है इन ८ प्रवचनों को माता की उपमा दी है।

टिप्पणी—जिस प्रकार माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम रखती है, उसका कल्याण करती है वैसे ही ये आठ गुण साधु जीवन के कल्याणकारी होने से जिनेश्वरों ने इनको 'मुनि की माताओं' की उपमा दी है।

(२) ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभंडनिक्षेपण, तथा उच्चारादि प्रतिष्ठापन ये पांच समितियां तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं।

टिप्पणी—(१) ईर्या:—मार्ग में बराबर उपयोगपूर्वक देखकर चलना। (२) भाषा:—विचारपूर्वक सत्य, निर्दोष तथा उपयोगी वचन बोलना। (३) एषणा:—निर्दोष तथा परिमित भिक्षा तथा अन्न वस्त्रादि उपकरण ग्रहण करना। (४) आदानभंडनिक्षेपणा:—वस्त्र, पात्रादि उपकरण (संयमी जीवन के उपयोगी साधन) उपयोगपूर्वक उठाना तथा रखना। (५) उच्चारादिप्रतिष्ठापन:—मलमूत्र वमन आदि कोई भी त्याज्य वस्तु किसी को दुःख न पहुंचे ऐसे एकान्त स्थान में विसर्जन करना।

(१) मनोगुप्ति:—दुष्ट चिन्तन में लगे हुए मनको वहां से हटा कर अच्छे उपयोग में लगाना। (२) वचनगुप्ति:—वचन का अशुभ व्यापार न करना। (३) कायगुप्ति:—कुमार्ग में जाते हुए शरीर को रोक कर सुमार्ग पर लगाना।

(३) जिन इन आठ प्रवचन माताओं का संक्षेप से ऊपर वर्णन किया है उनमें जिनेश्वर कथित १२ अंगों का समावेश हो जाता है। (सब प्रवचन इन माताओं में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं)

टिप्पणी—बारह अंगों (अंगभूत शास्त्रों) के प्रवचन उच्च आचार के द्योतक हैं और ये आठ गुण यदि बराबर क्रिया में आवें तो ही उच्च आचार सिद्ध हुआ माना जाय। साध्य ही जब हाथ में

योग करने में संयमधर्म पूर्वक संभाल रखना—इसे एषणा समिति कहते हैं।

(१२) ऊपर की प्रथम गवेषणा (अर्थात् उद्गमन) तथा उत्पादन (भिक्षा प्राप्त करने) में तथा दूसरी ग्रहणैषणा में तथा तीसरी उपयोगैषणा (उपयोग करने) में लगनेवाले दोषों से संयमी साधु को उपयोगपूर्वक दूर रहना चाहिये।

टिप्पणी—दातार गृहस्थ के उद्गमन सम्बन्धी १६ दोष हैं। उसको इन दोषों से रहित भिक्षा ही दान करना चाहिये। उत्पादन (भिक्षा प्राप्त करने) के १६ दोष साधु के भी हैं और उन दोषों को बचाकर ही साधु को भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ग्रहणैषणा के १० दोष हैं वे गृहस्थ तथा भिक्षु दोनों को लागू पड़ते हैं और उन दोषों से बचना इन दोनों का ही कर्तव्य है। इनके सिवाय ५ दोष भिक्षा भोजन (खाने) के भी हैं, उन दोषों का परिहार कर साधु भोजन करे।

(१३) औघिक तथा औपग्रहिक इन दोनों प्रकार के उपकरण या पात्र आदि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों को उठाते और रखते हुए भिक्षु को इस विधि का बराबर पालन करना चाहिये।

टिप्पणी—औघिक वस्तुएँ वे हैं जो याचना करने के बाद लौटा दी जाती हैं जैसे उपाश्रय का स्थान, पाट, पाटला, आदि तथा औपग्रहिक वस्तुएँ वे हैं जो [illegible] ग्रहण करने के बाद वापिस नहीं की जातीं, जैसे [illegible]

[illegible] वस्तु को देखे, फिर उसे [illegible]

टिप्पणी—छोटा गोच्छा (छोटा ओघा) जो संयमी का झाड़ने का साधन माना जाता है उससे सूक्ष्म जीवों की भी विराधना न हो इस प्रकार पात्र आदि को झाड़ने-पोंछने की क्रिया को 'परिमार्जन' क्रिया कहते हैं।

(१५) मल, मूत्र, थूंक, नाक, शरीर का मैल, अपथ्य आहार, पहिना न जासके ऐसा फटा वस्त्र, किसी साधु का शव (मृत शरीर), अथवा अन्य कोई फेंक देने की अनुपयोगी वस्तुएं हों तो उनको जहां तहां न फेंक (या डाल) कर उचित (जीव रहित एकांत) स्थल में ही छोड़े।

टिप्पणी—परिहार्य वस्तुएं अस्थान में फेंक देने से गंदगी, रोग, तथा उपद्रव पैदा होते हैं, जीवजन्तुओं की उत्पत्ति और उनकी हिंसा होती है, आदि अनेक दोष होते हैं इसीलिये फेंक देने जैसी गौण क्रिया में भी इतना अधिक उपयोग रखने का उपदेश देकर जैनधर्म के वैज्ञानिक, वैदक, तथा धार्मिक दृष्टियों का सर्वमान्य तथा सुन्दर समन्वय कर दिखाया है।

(१६) वह स्थान १० विशेषणों से युक्त होना चाहिये जिनमें से प्रथम विशेषण के ये चार भेद कहे हैं—(१) उस समय वहां कोई भी मनुष्य आता जाता न हो और वहां किसी की दृष्टि भी न पड़ती हो ऐसा स्थान, (२) यद्यपि पास में कोई मनुष्य आता जाता न हो किन्तु दूर से किसी की दृष्टि वहां पड़ सकती हो ऐसा स्थान, (३) यद्यपि मनुष्य पास से निकल जाते हैं फिर भी उनकी दृष्टि वहां पर नहीं पड़ सकती ऐसा गुप्त स्थान, (४) जहां लोग आते जाते भी हैं और उन सबकी निगाह भी पड़ती है ऐसा खुला स्थान।

१.

(१७) (१) उपरोक्त ४ प्रकार के स्थानों में से केवल प्रथम प्रकार (अर्थात् जहां कोई आता जाता न हो और किसी की दृष्टि भी पड़ती हो ऐसे गुप्त) के स्थान ही वैसी क्रिया करें। (२) उस स्थान का दूसरा विशेषण यह है कि वैसे एकान्त स्थान का उपयोग करने से किसी की हानि या किसी को दुःख न पहुँचे ऐसा निरापद होना चाहिये। (३) वह स्थान सम (ऊँचा नीचा न) हो।

(१८) (४) वह स्थान घास पत्तों से रहित हो; (५) वह स्थान अचित्त (चींटी, कुन्थु आदि जीवों से रहित) हो (६) वह स्थान एकदम तंग न हो किन्तु चौड़ा हो (७) उसके नीचे भी अचित्त भूमि हो, (८) अपने निवास स्थान से अत्यन्त पास न हो किन्तु दूर हो, (९) जहां पर चूहे आदि जमीन के अन्दर रहने वाले जन्तुओं के बिल (छिद्र) न हो, (१०) जहां प्राणी अथवा बीज न फैले हों—उपर्युक्त १० विशेषणों से सहित स्थान में ही मलमूत्र त्यागने की क्रिया करें।

(१९) (भगवान सुधर्मस्वामी ने जंबूस्वामी से कहा—) हे जम्बू! पांच समितियों का स्वरूप यहां संक्षेप में ऊपर कहा है। अब तीन गुप्तियों का क्रम से वर्णन करता हूं सो ध्यानपूर्वक सुनो।

टिप्पणी—[illegible]
है [illegible]

[illegible]

(२) असत्य मनोगुप्ति, (३) सत्यमृषा (मिश्र) मनोगुप्ति, और (४) असत्याऽमृषा (व्यवहार) मनोगुप्ति ।

टिप्पणी—जहां सत्य की तरफ ही मन का वेग रहता है उसे सत्य मनोगुप्ति, जहां असत्य वस्तु की तरफ मन का झुकाव हो उसे असत्य मनोगुप्ति, कभी सत्य और कभी असत्य की तरफ मन के झुकाव को अथवा जहां सत्य में थोड़ा असत्य भी मिला हो और उसे सत्य मानकर चिन्तवन करना उसे मिश्र मनोगुप्ति, तथा संसार के शुभाशुभ व्यवहार में ही चित्त का लगा रहना उसे व्यवहार मनोगुप्ति कहते हैं।

(२१) संरंभ, समारंभ, और आरंभ इन तीनों क्रिया में जाते हुए मन को रोक कर शुद्ध क्रिया में ही प्रवृत्ति करना यह मनोगुप्ति है इसलिये संयमी पुरुष को वैसी दूषित क्रियाओं में जाते हुए मन को रोक कर मनोगुप्ति की साधना करनी ही उचित है।

टिप्पणी—संरंभ, समारंभ और आरम्भ ये तीनों हिंसक क्रियाएं हैं। प्रमादी जीवात्मा हिंसादि कार्य करने का जो संकल्प करता है उसे संरंभ कहते हैं और उस संकल्प की पूर्ति के लिये साधन सामग्री इकट्ठा करना या जुटाना उसे समारंभ कहते हैं और बाद में उन सब के द्वारा कोई काम करना उसे आरंभ कहते हैं। कार्य का विचार करने से लेकर उसको पूर्ण करने तक ये तीनों अवस्थायें क्रमशः होती हैं।

(२२) वचनगुप्ति भी इन्हीं चार प्रकार की [illegible] सत्य वचन गुप्ति, (२) असत्य वचन [illegible] सत्यमृषा (मिश्र) वचन गुप्ति, और (४ [illegible] (व्यवहार) वचन गुप्ति।

(२३) संयमी को चाहिये कि वह ऐसे वचन न बोले जिससे संरंभ, समारंभ, आरंभ में से एक भी क्रिया हो। वह उपयोगपूर्वक ऐसे वचनों से बचे।

(२४) (सुधर्मास्वामी ने जंबूस्वामी से कहा:—हे जम्बू ! संक्षेप में वचनगुप्ति का लक्षण मैंने कहा है) अब मैं कायगुप्ति का लक्षण कहता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो:—कायगुप्ति के ५ प्रकार हैं—(१) खड़े होने में, (२) बैठने में, (३) लेटने में, (४) नाली आदि को लाँघने में, तथा (५) पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्तियों (व्यापारों) में—

(२५) यदि संरंभ, समारंभ, अथवा आरंभ में से कोई भी क्रिया संभव हो जाती हो तो संयमी को उचित है कि वह अपनी काया को उपयोगपूर्वक रोक रक्खे और वह काम न करे – इसे 'कायगुप्ति' कहते हैं।

टिप्पणी—मन, वचन और काय का केवल आत्मलक्षी प्रवृत्ति में ही [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

परन्तु संस्कृति दो प्रकार की होती है-एक कुलगत तथा दूसरी आत्मगत। कुलगत संस्कृति की छाप कई बार भूल में डाल देती है, वास्तविक रहस्य नहीं समझने देती और जीवात्मा को सत्य से दूर धकेल ले जाने में सहायक होती है किन्तु जिस जीवात्मा में आत्मगत संस्कृति का बल अधिक होता है वही आगे बढ़ती है, वही सत्य को प्राप्त होती है और वहां सम्प्रदाय, मत, वाद तथा दर्शन संबंधी झगड़े खड़े रह नहीं सकते।

जयघोष वेदों के धुरन्धर विद्वान थे। वेदनाम्य यज्ञ करने का उन्हें व्यसनसा लगा था किन्तु उन यज्ञों द्वारा प्राप्त हुई पवित्रता उन्हें क्षणिक मालूम पड़ी, यज्ञों के फलस्वरूप जिस स्वर्गमुक्ति की प्राप्ति का वर्णन वेद करते हैं वह प्राप्ति उन्हें इन यज्ञों द्वारा अस्वाभाविक, असत्य जैसी मालूम पड़ी। आत्मगत संस्कृति के बल से कुलगत संस्कृति के पटल उड़ गये। तत्पश्चात् ही उस वीर ब्राह्मण ने सच्चा ब्राह्मणत्व अंगीकार किया और सच्चे यज्ञ में चित्त देकर सच्ची पवित्रता प्राप्त की।

विजयघोष यज्ञशाला में कुलपरंपरागत यज्ञ करने में व्यस्त थे। उसी समय जयघोष याजक वहां आ निकले, मानों पूर्व के प्रबल ऋणानुबन्ध ही उन्हें यहां खींच लाये थे!

जयघोष का त्याग, जयघोष की तपश्चर्या, जयघोष की साधुता, जयघोष का प्रभाव, तथा जयघोष की पवित्रता आदि सद्गुण देखकर अनेक ब्राह्मण आकर्षित हुए और तब उनके द्वारा वे सच्चे यज्ञ का स्वरूप समझे। इन दोनों के बहुत ही विचारपूर्ण संवाद से यह अध्ययन अलंकृत हुआ है।

भगवान बोले—

(१) पहिले बनारस नगरी में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी

पांच महाव्रतरूपी भावयज्ञ करनेवाले जयघोष नाम के एक महायशस्वी मुनि हो गये हैं।

(२) पांचों इन्द्रियों के सर्व विषयों का निग्रह करनेवाले और केवल मोक्ष मार्ग में ही चलनेवाले (मुमुक्षु) ऐसे वे महामुनि गाम गाम विचरते हुए फिर एकबार उसी बनारस (अपनी जन्मभूमि) नगरी में आये।

(३) और उनने बनारस नगरी के बाहर मनोरम नाम के उद्यान में निर्दोष स्थान शय्यादि की याचना कर निवास किया।

(४) उसी काल में उसी बनारस नगरी में चारों वेदों का ज्ञाता विजयघोष नामका ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था।

(५) उपर्युक्त जयघोष मुनि मासखमण की महातपश्चर्या के पारणे के लिये उस विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला में (उसी समय) भिक्षार्थ आकर खड़े हुए।

(६) मुनिश्री को आते देखकर वह याजक उनको दूर ही से वहां आने से रोकता है और कहता है:—हे भिक्षु! मैं तुझे भिक्षा नहीं दे सकता। कहीं दूसरी जगह जाकर मांग।

(७) हे मुने! जो ब्राह्मण धर्मशास्त्र के तथा चारों वेदों के पारगामी, यज्ञार्थी तथा ज्योतिषशास्त्र सहित छहों अंगों के जानकर, और जितेन्द्रिय हों ऐसे—

(८) तथा अपनी आत्मा को और दूसरों की आत्मा को (इस संसारसागर से पार करने में समर्थ हों ऐसे ब्राह्मणों को ही यह सुन्दर मनोवांछित भोजन देने का है।

(९) उत्तम अर्थ की शोध करने वाले वे महामुनि इस प्रकार वहां निषेध किये जाने पर भी न तो खिन्न हुए और न

प्रसन्न ही हुए (अर्थात् उनके भावों में विकार न हुआ)।

(१०) अन्न, पानी, वस्त्र अथवा अन्य किसी भी पदार्थ की इच्छा से नहीं किन्तु केवल विजयघोष का अज्ञान दूर करने के लिये ही उन मुनीश्वर ने ये वचन कहे:—

(११) हे विप्र ! तुम वेद के मुख को, यज्ञों के मुख को, नक्षत्रों के मुख को तथा धर्मों के मुख को जानते ही नहीं हो।

टिप्पणी—'मुख' शब्द का आशय यहाँ 'रहस्य' है। यहां वेद, यज्ञ, नक्षत्र तथा धर्म इन चार का नामनिर्देश करने का कारण यह है कि विजयघोष के ब्राह्मणों को इन चारों का जानकार होने का दावा किया था।

(१२) अपनी तथा पर की आत्मा को (इस भवसागर से) पार करने में जो समर्थ हैं उनको भी तुम नहीं जानते। यदि जानते हो तो कहो।

महातपस्वी तथा ओजस्वी मुनि के इन प्रभावशाली प्रश्नों को सुनकर ब्राह्मणों का सब समूह निरुत्तर होगया।

(१३) मुनि के प्रश्न का ऊहापोह करके (उत्तर देने में) असमर्थ वह ब्राह्मण तथा वहां उपस्थित समस्त विप्रसमूह अपने दोनों हाथ जोड़कर उस महामुनि से इस प्रकार निवेदन करने लगे:—

(१४) (हे) आपही वेदों का, यज्ञों का, नक्षत्रों का तथा धर्म का मुख बताओ।

(१५) अपनी तथा पर की आत्मा का उद्धार करने में जो समर्थ हैं वे कौन हैं ? ये सभी हमारे प्रश्न हैं ना हमसे पूछे हुए इन प्रश्नों का आप ही खुलासा करें।

(१६) (मुनि ने उत्तर दिया:—) वेदों का मुख अग्निहोत्र है (अर्थात् जिस वेद में सच्चे अग्निहोत्र का प्रधानता से वर्णन किया गया है वही वेद वेदों का मुख है)। यज्ञों का मुख यज्ञार्थी (संयमरूपी यज्ञ करनेवाला साधु) है, नक्षत्रों का मुख चंद्रमा है तथा धर्म के प्ररूपकों में भगवान ऋषभदेव, वीतराग होने के कारण उनके द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ सत्य धर्म–यही सब धर्मों का मुख (श्रेष्ठ) है।

टिप्पणी—अग्निहोत्र यज्ञ में जीवरूपी कुंड है तथा तपरूपी वेदिका है, कर्मरूपी ईंधन, ध्यानरूपी अग्नि, शुभोपयोग रूपी कड़छी, शरीररूपी होता (याजक) तथा शुद्ध भावनारूपी आहुति है। जिन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों का विधान होता है उन्हें 'वेद' कहते हैं और जो कोई भी ऐसे यज्ञ करते हैं वे ही सर्वोत्तम याजक हैं।

(१७) जैसे चन्द्र के आगे अन्य ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं और तरह २ की मनोहर स्तुति कर वन्दन करते हैं वैसे ही उन उत्तम काश्यप (भगवान ऋषभदेव) को इन्द्रादि नमस्कार करते हैं।

(१८) सत्य ज्ञान तथा ब्राह्मण के सत्य कर्म से अज्ञान मूढ़ पुरुष केवल 'यज्ञ यज्ञ' शब्द चिल्लाया करते हैं किन्तु वे यज्ञ का असली रहस्य नहीं जानते और जो केवल वेद का अध्ययन एवं शुष्क तपश्चर्या किया करते हैं वे सब ब्राह्मण नहीं हैं किन्तु राख में ढके हुए अंगार के समान हैं।

टिप्पणी—[illegible] हैं किन्तु [illegible] है।

सच्चा ब्राह्मण कौन है ?

(१९) इस लोक में जो पुरुष अग्नि की तरह पापरहित होने से पूज्य हुआ है उसीको कुशल पुरुष 'ब्राह्मण' मानते हैं और इसीलिये हम भी उसे ब्राह्मण कहते हैं।

(२०) जो स्वजनादि (कुटुम्ब) में आसक्त नहीं होता और संयम धारण कर (उसके कष्टों के कारण) शोक नहीं करता तथा महापुरुषों के वचनामृतों में आनन्दित होता है, उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२१) जिस प्रकार शुद्ध हुआ सोना कालिमा तथा किट्टिमा आदि मैलों से रहित होता है इसीतरह जो मल तथा पाप से रहित है; राग, द्वेष, भय आदि दोषों से परे (दूर) है उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२२) जो सदाचारी, तपस्वी तथा दमितेन्द्रिय है, तथा जिसने उग्र तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर के रक्त मांस सुखा डाले हों कृशगात्र हो तथा कषायों के शांत होने से जिसका हृदय शांति का सागर हो रहा हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२३) जो त्रस तथा स्थावर जीवों की मन, वचन तथा काय से किसी भी प्रकार हिंसा नहीं करता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२४) जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर कभी भी असत्य वचन नहीं बोलता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं

हैं। इसलिये जीव अपने कर्म से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होते हैं, जन्म के कारण नहीं। जैसे जो कोई कर्म करेगा—जैसी जिसकी क्रिया होगी तदनुसार ही उसकी जाति मानी जायगी। गुणों की न्यूनाधिकता से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा चांडाल आदि के भेद किये गये हैं।

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, त्याग तथा तपश्चर्यादि गुणों का ज्यों ज्यों विकास होता जाता है त्यों २ ब्राह्मणत्व का विकास होता जाता है। सच्चा ब्राह्मणत्व साधन कर ब्रह्म (आत्मस्वरूप) या आत्म-ज्योति प्राप्त करना—यही सबका एकतम लक्ष्य है। जातिपाँति के बखेड़ोंको छोड़ कर सच्चे ब्राह्मणत्व की आराधना करना यही सबका कर्तव्य होना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'यज्ञीय' नामक पच्चीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

समाचारी

२६
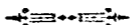
समाचारी का अर्थ है सम्यक् दिनचर्या। अर्थात् शरीर, इन्द्रियां तथा मन—ये साधन जिस उद्देश्य से मिले हैं उस उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर उन साधनों का सदुपयोग करना—यही चर्या का अर्थ है।

रात दिन मन को उचित प्रसंग में लगाये रखना और निरंतर उसी एक कार्य में जुटे रहना—यही साधक की दिनचर्या है।

ऐसा करने से पूर्व जीवनगत दुष्ट प्रकृतियों को वेग नहीं मिलता और नित्य नूतन पवित्रता प्राप्त होती रहने से ज्यों २ परंपरागत दुष्ट भावनाएं निर्बल होकर अन्त में झड़ती जाती हैं त्यों त्यों मोक्षार्थी साधक अपने आत्मरस के घूंट अधिकाधिक पी पीकर अमर बनता जाता है।

इस प्रकरण में त्यागी जीवन की समाचारी का वर्णन किया है। त्यागी जीवन सामान्य गृहस्थ साधक के जीवन की अपेक्षा अधिक ऊंचा, सुन्दर तथा पवित्र होता है इससे उसकी दिनचर्या भी उतनी ही शुद्ध तथा कड़ी हो—यह स्वाभाविक ही है।

साधक भिक्षुओं की आज्ञा स्वीकार कर उनकी आज्ञा सर्वथा यथार्थ एवं उचित है—ऐसा जानकर उसका आदर मान किया जाता है।

टिप्पणी—पांचवीं समाचारी में केवल अपने ही पेट की तृप्ति की भावना को दूर कर उदारता दिखाने का निर्देश किया है। छट्ठी में साथी साधुओं का पारस्परिक प्रेम, सातवीं में सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रुटि का भी निवारण तथा आठवीं समाचारी में गुरु का आज्ञाधीन होने का विधान किया है।

(७) (९) गुरुपूजा में अभ्युत्थान—अर्थात् उठते बैठते अथवा अन्य सभी क्रिया में गुरु आदि की तरफ अनन्य गुरुभक्ति करने तथा उनके गुणों की पूजा करने की क्रिया को कहते हैं। (१०) अवस्था तथा उपसम्पदा—उस क्रियाको कहते हैं कि अपने साथ के आचार्य, उपाध्याय या अन्य विद्यागुरुओं के पास विद्या प्राप्त करने के लिये विवेकपूर्वक रहना और विनम्र भाव से आचरण करना। ये दस समाचारियां कहलाती हैं।

(८) (दसवीं समाचारी में जहां भिक्षु रहता है उस गुरुकुल में उसे रात्रि तथा दिवस में किस तरह की चर्या करनी चाहिये उसको सविस्तर समझाया है)। दिन के चार प्रहर होते हैं उनमें से सूर्योदय के बाद, पहिले प्रहर के चौथे भाग में (उतने समय में) वस्त्रपात्रादि (संयमी के उपकरणों) का प्रतिलेखन करे और इस क्रिया के बाद गुरु को प्रणाम कर—

टिप्पणी—दिन के चार प्रहर होते हैं, इसलिये यदि ३२ घड़ी का दिन हुआ तो ८ घड़ी का एक प्रहर मानना चाहिये। उसका चौथा भाग दो घड़ी (४८ मिनिट) हुई। जैन भिक्षुओं को अपने वस्त्रपात्रादि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों का प्रतिदिन दो बार सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण निरीक्षण करना चाहिये।

(९) दोनों हाथ जोड़कर पूंछना चाहिये कि हे पूज्य! अब मैं क्या करूं? वैयावृत्य (सेवा) या स्वाध्याय (अभ्यास) इन दोनों में से आप किस काम में मेरी योजना करना चाहते हैं? हे पूज्य! मुझे आज्ञा दीजिये।

(१०) यदि गुरुजी वैयावृत्य (किसी भी प्रकार की सेवा) करने की आज्ञा दें तो ग्लानिरहित होकर सेवा करे और यदि स्वाध्याय करने की आज्ञा दें तो सब दुःखों से छुड़ानेवाले स्वाध्याय में शांतिपूर्वक दत्तचित्त होकर लग जाय।

टिप्पणी—(१) वांचना (शिक्षा लेना), (२) पृच्छना (प्रश्न पूंछ कर शंका समाधान करना), (३) परिवर्तना (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन करना), (४) अनुप्रेक्षा (पठित पाठ का मनन करना) और (५) धर्मकथा (व्याख्यान देना) ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं।

(११) विचक्षण मुनि को चाहिये कि वह दिन के समय को चार भागों में विभक्त करे और इन चारों विभागों में उत्तर गुणों (कर्तव्यकर्मों) की वृद्धि करे।

(१२) अब चारों प्रहरों के काम क्रमशः बताते हैं। पहिले प्रहर में स्वाध्याय (अभ्यास), दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे

प्रहर में भिक्षाचरी, और चौथे प्रहर में स्वाध्यायादि कृत्य करे।

टिप्पणी—"आदि" शब्द से पहिले तथा अन्तिम प्रहरों में प्रतिलेखन तथा शौचादि क्रियाओं का समावेश किया है।

(१३) आषाढ़ मास में दो कदम, पौष मास में चार कदम और चैत्र तथा आसोज (कुंआर) महीने में तीन कदम पर पोरसी होती है।

टिप्पणी—पोरसी अर्थात् प्रहर। सूर्य की छाया पर से काल का प्रमाण मिले उसके लिये यह प्रमाण बताया है।

(१४) उपरोक्त चार महीनों के सिवाय दूसरे आठ महीनों में प्रत्येक सात दिन रात (सप्ताह) में एक एक अंगुल, और एक पक्ष (पन्द्रह दिनों) में दो दो अंगुल, और प्रत्येक महिने में चार चार अंगुल प्रत्येक प्रहर में छाया घटती बढ़ती है।

टिप्पणी—श्रावण बदी प्रतिपदा से पौष सुदी पूर्णिमा तक छाया बढ़ती है और माह बदी प्रतिपदा से आषाढ़ सुदी पूर्णिमा तक छाया घटती है।

किन किन महिनों में तिथियां घटती हैं ?

(१५) आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख इन सब महिनों के कृष्ण पक्ष में १—१ तिथि घटती है।

टिप्पणी—उपरोक्त छहों महीने २९–२९ दिन के होते हैं। इनके अतिरिक्त के ६ महीने ३० ३० दिन के होते हैं। इस गणना से सारे वर्ष में कुल ३५४ दिन होते हैं।

(१६) (पौनी पोरसी के पग की छाया का माप कहते हैं) जेठ, आषाढ़ और श्रावण इन तीन महीनों में जिस पोरसी के लिये पग की छाया का माप बताया है उस प्रमाण के ऊपर ६ अंगुल प्रमाण बढ़ा देने से उस महीना की पौनी पोरसी निकल आती है। भाद्रपद, आसोज तथा कार्तिक इन तीन महीनों में, ऊपर जो माप बताया है उसमें आठ अंगुल प्रमाण बढ़ा देने से पौनी पोरसी निकल आती है। मंगसर (अगहन) पौष तथा माह इन तीन महीनों में बताये हुए माप में १० अंगुल प्रमाण बढ़ा देने से पौनी पोरसी निकल आती है। फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीन महीनों में जो माप बताया है उसमें आठ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ाने से पौनी पोरसी निकल आती है। इस समय वस्त्र-पात्रादिकों का प्रतिलेखन करे।

(१७) विचक्षण साधु रात्रिकाल के भी चार विभाग करे और प्रत्येक भाग में प्रत्येक पोरसी के योग्य कार्य कर अपने गुणों की वृद्धि करे।

(१८) रात्रि के पहिले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा, और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे।

(१९) अब रात्रि की पोरसी निकालने की रीति कहते हैं। जिस काल में जो [illegible] नक्षत्र [illegible] रहते हों [illegible] जब वह आकाश के चौथे भाग पर पहुँचे तब रात्रि का [illegible] समझना चाहिये और उस समय [illegible] कर देना चाहिये।

(२०) और वह नक्षत्र चलते चलते आकाश का केवल चौथा

(ध्यान कहीं से कहीं चला जाय)। इस प्रकार १३ प्रकार की अप्रशस्त प्रतिलेखनाएं होती हैं।

(२८) बहुत कम अथवा विपरीत प्रतिलेखना न करना यही उत्तम है। बाकी के दूसरे समस्त प्रकारों को तो अप्रशस्त ही समझना चाहिये।

टिप्पणी—प्रतिलेखना के ८ भेद हैं इनमें से उपरोक्त प्रथम प्रकार का ही आचरण करना चाहिये। शेष भेदों को छोड़ देना चाहिये।

(२९) प्रतिलेखना करते २ यदि (१) परस्पर वार्तालाप करे; (२) किसी देश का समाचार कहे, (३) किसी को प्रत्याख्यान (व्रतनियमादि) दे; (४) किसी को पाठ आदि दे; अथवा (५) प्रश्नोत्तर करे तो—

(३०) वह साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करने का दोषभागी होता है और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा वनस्पति स्थावर तथा चलते फिरते त्रस जीवों की हिंसाका दोषी होता है।

(३१) और जो साधु प्रतिलेखना में बराबर उपयोग लगाता है वह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तथा वनस्पति के स्थावर जीवों और त्रस जीवों का रक्षक बनता है।

टिप्पणी—यद्यपि वस्त्रपात्रादि की प्रतिलेखना में प्रमाद करने से मात्र त्रस जीवों की अथवा वायुकायिक जीवों का ही घात हो जाना सम्भव है परन्तु प्रमाद यह ऐसा महादोष है कि यदि वह सूक्ष्म रूप में भी साधक की प्रवृत्ति में आ घुसे तो वह धीमे धीमे उसके जीवन में ही व्याप्त हो जाता है और फिर साधुको उसका उद्देश्य भुलाकर ऐसी दुर्गति में डाल देता है कि जहां छः काय के जीवों का भी हिंसा हो सकती है, इसलिये उपचार से उपरोक्त कथन किया गया है।

(३२) तीसरे प्रहरमें निम्नलिखित ६ कारणों में से यदि कोई भी कारण उपस्थित हो तो साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।

टिप्पणी—भिक्षाचरी जाने के लिये तीसरे प्रहर का विधान काल तथा क्षेत्र देखकर किया गया है। उसका आशय समझकर विवेक-पूर्वक समन्वय करना चाहिये।

(३३) (वे ६ कारण ये हैं) (१) क्षुधा वेदना की शांति के लिये; (२) सेवा के लिये (शक्त शरीर होगा तो दूसरों की सेवा ठीक २ हो सकेगी); (३) ईर्यार्थ के लिये (खाये बिना आंख के सामने अन्धेरा आता हो तो उसे दूर कर ईर्यासमिति-पूर्वक मार्गगमन किया जा सके); (४) संयम पालने के लिये; (५) जीवन निभाने के लिये; और (६) धर्मध्यान तथा आत्मचिंतन करने के लिये निर्ग्रंथ साधु अहार-पानी का ग्रहण करे।

(३४) धैर्यवान साधु अथवा साध्वी निम्नलिखित ६ कारणों से आहार—पानी ग्रहण न करे तो वह असंयमी नहीं माना जाता (अर्थात् संयम का साधक ही माना जाता है):—

(३५) (१) रुग्णावस्था में, (२) उपसर्ग (पशु, मनुष्य अथवा देव-कृत कष्ट) आवे उसे सहन करने में, (३) ब्रह्मचर्य पालन के लिये, (४) सूक्ष्म [illegible] की उत्पत्ति हुई जानकर उनकी दया [illegible] (५) तप करने के निमित्त, (६) [illegible] गल [illegible] संथारा ([illegible]

से आहार न करने से संयमपालन हुआ समझना चाहिये)।

टिप्पणी—संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजनग्रहण करने की आज्ञा है। यदि ऐसे भोजन से—जिससे शरीर रक्षा तो होती हो किन्तु संयमी जीवन नष्ट होता हो तो ऐसा भोजन साधु हर्गिज न करे। ऐसा विधान करने में संयमी जीवन की मुख्यता बताने का उद्देश्य है। संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजन है, भोजन के लिये संयमी जीवन नहीं है।

(३६) आहार—पानी के लिये जाते समय भिक्षु को अपने सब पात्र तथा उपकरणों को बराबर साफ करके ही भिक्षा को जाना चाहिये। भिक्षा के लिये अधिक से अधिक आधे योजन तक ही जाय। (आगे नहीं)।

(३७) आहार करने के बाद, साधु चौथी पोरसी में पात्रों को अलग बांधकर रख देवे और यावन्मात्र पदार्थों को प्रकट करने वाले स्वाध्याय को करे।

(३८) चौथी पोरसी के चौथे भाग में स्वाध्यायकाल से निवृत्त होकर गुरु की वन्दना कर साधु वस्त्र, पात्र इत्यादि की प्रतिलेखना करे।

टिप्पणी—चौथी पोरसी का चौथा भाग अर्थात् सूर्यास्त के पहिले दो घड़िया का समय।

(३९) सब सूत्र याद करने का [illegible] व चौथे पहर के बाद [illegible] [illegible] करने के बाद [illegible] [illegible]। सब दुःखों से छुड़ाने वाले कायोत्सर्ग को क्रमपूर्वक करे।

टिप्पणी—जैनदर्शन में भिक्षु के लिये सुबह तथा सांय इस तरह दो समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक बताया है। प्रतिक्रमण में, हुये दोषों की आलोचना तथा भविष्य में वे दोष फिर न हों उसका संकल्प किया जाता है।

(४०) उस कायोत्सर्ग में भिक्षु उस दिवस सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन अथवा चारित्र में लगे हुए दोषों का क्रमशः चिंतवन करे।

(४१) कायोत्सर्ग पाल कर फिर गुरु के पास आकर उनकी वंदना करे। बाद में उस दिन में किये गये अतिचारों (दोषों) को क्रमपूर्वक गुरु से निवेदन करे।

(४२) इस प्रकार दोष के शल्यसे रहित होकर तथा समस्त जीवों की क्षमापना लेकर फिर गुरु को नमस्कार कर सर्व दुःखों से छुड़ानेवाला ऐसा कायोत्सर्ग ध्यान करे।

(४३) कायोत्सर्ग करके फिर गुरु की वन्दना करे (प्रत्याख्यान करे) और उसके बाद पंचपरमेष्ठी की स्तुतिमंगल पाठ करके स्वाध्यायकाल की अपेक्षा (इच्छा) करे।

टिप्पणी—प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभाग) होते हैं। यह सब विधि ऊपर लिखा जा चुका है।

(४४) अब रात्रि की विधि कहते हैं मुनि पहिले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे।

(४५) चौथी पोरसी का काल आया हुआ जान कर अपनी आवाज से गृहस्थ न जाग उठें इस प्रकार धीमे से स्वाध्याय करे।

(४६) चौथी पोरसी का चौथा भाग बाकी रहे (अर्थात् सूर्योदय

में दो घड़ी पहिले स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर) सब आवश्यक काल सम्बन्धी प्रतिलेखन कर (प्रतिक्रमण का काल जान कर) फिर गुरु की वन्दना करे।

(४७) (दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण की जो रीति बताई है वह संपूर्ण विधि होने के बाद) सब दुःखों से छुड़ानेवाला कायोत्सर्ग आदि सब पहिले कायोत्सर्ग करें।

(४८) इस कायोत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप संबंधी जो २ अतिचार लगे हों उनका अनुक्रम से चिन्तवन करें।

(४९) कायोत्सर्ग करने के बाद गुरु की वंदना करें तथा रात्रि में हुए अतिचारों को क्रमपूर्वक निवेदन कर उनकी आलोचना करें।

(५०) शल्यरहित होकर तथा गुरु से क्षमा मांगकर गुरु को पुनः प्रणाम कर और सब दुःखों से छुड़ानेवाला ऐसा कायोत्सर्ग करें।

टिप्पणी—कायोत्सर्ग अर्थात् देहभाव से मुक्त होकर आत्मस्थ होने की क्रिया।

[illegible]

[illegible]

टिप्पणी—इस प्रकार रात्रि प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभागों) की क्रिया पूर्ण हुई।

(५३) इस प्रकार दस प्रकार की समाचारी का वर्णन संक्षेप में किया है जिनका पालन कर बहुत से जीव इस भवसागर को पार कर गये हैं।

टिप्पणी—असावधानता विकास (उन्नति) को रोकनेवाली है। चाहे कैसी भी सुन्दर क्रिया क्यों न हो किन्तु अव्यवस्थित हो तो उसकी कुछ भी कीमत नहीं है। व्यवस्था और सावधानता इन दोनों गुणों से मानसिक संकल्प का बल बढ़ता है। संकल्पबल बढ़ने से संकटों तथा विघ्नों के दल परास्त होते हैं और अन्त में लक्ष्यसिद्धि होती है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह "समाचारी" सम्बन्धी छब्बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

स्थिति में वे अपना धर्म बचाकर एकांत में जाकर बसे और स्वावलंबन की प्रबल शक्ति को वृद्धिगत कर उनने अपने आत्महित की साधना की।

भगवान बोलेः—

(१) सर्व शास्त्रों के पारगामी एक गार्ग्य नाम के गनधर तथा स्थविर मुनि थे। वे गणिभाव से युक्त रहकर निरंतर समाधिभाव की साधना किया करते थे।

टिप्पणी—जो अन्य जीवों को धर्म में स्थिर करता है अर्थात् ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, तथा प्रमज्यावृद्ध होता है उसे 'स्थविर' भिक्षु कहते हैं और जो भिक्षुगण का व्यवस्थापक होता है उसे 'गनधर' कहते हैं।

(२) जैसे गाड़ी में योग्य वहन (बैल) जोड़ने से वह गाड़ीवान अटवी (वन्य मार्ग) को सरलता से पार कर जाता है वैसे ही योग (संयम) मार्ग में वहन करते हुए शिष्य साधक तथा उनको दोरनेवाला गुरु दोनों ही संसार रूपी अटवी को सरलता से पार कर जाते हैं

(३) परन्तु जो कोई गाड़ीवान गरियार बैलों को गाड़ी में जोड़ता है वह उन्हें (न चलने के कारण) यद्यपि मारते मारते थक जाता है फिर भी अटवी को पार नहीं कर पाता और वहां वहां ही दुःखी होता है और असमाधि का अनुभव करता है मारने से [illegible] का चाबुक भी टूट जाता है।

(४) बहुत से गाड़ीवान ऐसे गरियार बैल की पूंछ मरोड़ते हैं, कोई न कोई बैलों को मार मार कर उन्हें बांध डालते हैं, फिरभी गरियार बैल अपनी जगह से टसक मस नहीं होते हैं।

(१४) इन सब कुशिष्यों को पढ़ाया, गुनाया, दीक्षित किया तथा अन्न पानी से पालन किया फिर भी जैसे हँस के बच्चे पंख निकलते ही दिशाविदिशा में (इधर उधर) स्वेच्छानुसार उड़ जाते हैं वैसे ही गुरु को छोड़कर ये शिष्य अकेले ही स्वच्छंदता से विचरते हैं।

(१५) जैसे गरियार बैल का सारथी (हाँकनेवाला गाड़ीवान) दुःख उठाता है वैसे ही गर्याचार्य अपने ऐसे कुशिष्यों के होने से खेदखिन्न होकर यह कह रहे हैं कि 'जिन शिष्यों से मेरी आत्मा क्लेशित हो ऐसे दुष्ट शिष्य किस काम के ?'।

(१६) अड़ियल टट्टू जैसे मेरे शिष्य हैं—ऐसा विचार कर गर्याचार्य मुनीश्वर उन अड़ियल टट्टुओं को छोड़कर एकान्त में तप साधन करते हैं।

(१७) इसके बाद वे सुकोमल, नम्रतायुक्त, गम्भीर, समाधिवंत और सदाचारमय आचार से समन्वित गर्याचार्य महात्मा वसुधा (पृथ्वी) पर अकेले ही विहार करते रहे।

टिप्पणी—जैसे गरियार बैल सारथी को त्रास देता है, गाड़ीवान को दुःखी करता है और स्वयं स्वच्छन्द से स्वयं भी दुःखी होता है वैसे ही स्वच्छन्दी शिष्य (साधक) स्वयं भी पतित होता है। [illegible]

अरंमता दिखाई जाती है यह यद्यपि ऊपर से परतंत्रता रूप मालूम होती है किन्तु वह वास्तव में स्वतन्त्रता है। ऐसी स्वतन्त्रता का उपासक ही आत्ममार्ग में आगे बढ़ सकता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'खलुंकीय' नामक सत्ताईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

मोक्षमार्गगति

मोक्षमार्ग पर गमन

२८

यावन्मात्र जीवों का लक्ष्य एकमात्र मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति ही है। दुःखों अथवा कषायों से सर्वथा छूट जाने को मुक्ति कहते हैं। कर्मबंधन से छूट जाना ही मुक्ति है; शान्ति स्थानकी प्राप्ति होना ही निर्वाण है। इस स्थिति में ही सब सुख समाये हैं।

जैनधर्म इन समस्त सांसारिक पदार्थों को दो भागों में विभक्त करता है: (१) जड़ (अजीव), तथा (२) चेतन (जीव) और इन दोनों तत्वों के सहायक तथा आधारभूत तत्त्व, जैसे कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन सबको मिलाकर ६ तत्वों में इस समस्त लोक का समावेश होजाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जीवात्मा की पहिचान—अर्थात् जीवात्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति—होना यही सबसे अधिक आवश्यक है। ऐसी प्रतीति का होना ही सम्यग्दर्शन है। उस प्रतीतिके होने के बाद आत्माके अनुपम ज्ञान की जो बिनगारी चमक उठती है उसीको सम्यग्ज्ञान सच्चा ज्ञान कहते हैं।

इस उत्तम स्थिति को प्राप्त करने में शास्त्रश्रवण, आत्म-चिन्तन, सत्संग तथा सद्वांचन आदि सब उपकारक साधन हैं। इन निमित्तों के द्वारा सत्य को जानकर, विचार कर तथा अनुभव करके आगे बढ़ना यही प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा का कर्तव्य होना चाहिये।

भगवान बोलेः—

(१) जिनेश्वर भगवानों ने यथार्थ मोक्ष का मार्ग जैसा प्ररूपित किया सो कहता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो। यह मार्ग चार कारणों से संयुक्त है और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप लक्षणात्मक है।

टिप्पणी—यहाँ 'ज्ञानदर्शन लक्षण' विशेषण प्रयुक्त करने का कारण यह है कि मोक्ष मार्ग में इन दोनों गुणों की सबसे अधिक प्रधानता है।

(२) (१) ज्ञान (पदार्थ की यथार्थ समझ), (२) दर्शन (तत्त्वों-पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा), (३) चारित्र (व्रतादि का आचरण), तथा (४) तप—इन चार प्रकारों से युक्त मोक्ष का मार्ग है—ऐसा केवलज्ञानी जिनेश्वर भगवान ने वर्णन है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नाम क्रम से (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान (४) मनः पर्ययज्ञान, और (५) केवलज्ञान, है।

टिप्पणी—इन सब ज्ञानों का सविस्तर वर्णन नन्दी आदि आगमों में है।

(५) ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुण तथा उनकी समस्त पर्यायें जानने के लिये उक्त पांच प्रकार का ज्ञान बताया है।

टिप्पणी—पर्याय अर्थात् एक ही पदार्थ की बदलती हुई अवस्थाएं। वे समस्त पदार्थों एवं गुणों में होती रहती हैं।

(६) गुण जिसके आश्रय रहते हैं उसे द्रव्य कहते हैं और एक द्रव्य में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श तथा ज्ञानादि जो धर्म रहते हैं उन्हें उस द्रव्य के गुण कहते हैं। द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रय जो रहती हैं उन्हें पर्याय कहते हैं।

टिप्पणी—जैसे आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञानादि उसके गुण हैं और कर्मवशात् वह भिन्न भिन्न रूप धारण करता है तो उन्हें उसकी पर्याय कहेंगे।

(७) केवली जिनेश्वर भगवानों ने इस लोक को धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय इन षड् द्रव्यात्मक बताया है।

टिप्पणी—"अस्तिकाय' शब्द जैन दर्शन का समूहवाची पारिभाषिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द की व्युत्पत्ति—अस्ति (है) काय (बहु प्रदेश) जिनके ऐसे पदार्थ अर्थात् काल द्रव्य को छोड़ कर उपरोक्त पांचों पदार्थ।

(८) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय ये तीनों १-१ द्रव्य हैं तथा काल, पुद्गल तथा जीव ये तीनों द्रव्य संख्या में अनन्त हैं।

टिप्पणी—समय गणना की अपेक्षा से यहां काल की अनन्तता का विधान किया है।

(९) चलने (गति) में सहायता करना यह धर्मास्तिकाय का लक्षण है। और ठहरने में मदद करना यह अधर्मास्तिकाय का लक्षण है। जिसमें सब द्रव्य रहते हैं उसे आकाश द्रव्य कहते हैं और सबको स्थान देना यह उसका लक्षण है।

(१०) पदार्थ की क्रियाओं के परिवर्तन पर से समय की जो गणना होती है वह काल का लक्षण है। उपयोग (ज्ञानादि व्यापार) जीव का लक्षण है और वह ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा व्यक्त होता है।

(११) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के विशिष्ट लक्षण हैं।

(१२) शब्द, अंधकार, प्रकाश, कान्ति, छाया, ताप, वर्ण (रंग) गंध, रस, तथा स्पर्श ये सब पुद्गलों के लक्षण हैं।

टिप्पणी—'पुद्गल' यह जैन दर्शन में जड़ पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है।

(१३) इकट्ठा होना, बिखर जाना, संख्या, आकार (वर्णादि का) संयोग तथा वियोग—ये सभी क्रियाएं पर्यायों की बोधक हैं, इसलिये यहां इनका (पुद्गलों का) लक्षण समझना चाहिये।

सम्यक्त्व पराक्रम

सम्यग्दर्शन की महिमा

२६

पराक्रम, शक्ति अथवा सामर्थ्य तो जीव मात्र में होता है किन्तु संसार में उसका उपयोग जुदी जुदी रीति से जुदे २ रूप में होता हुआ देखा जाता है और उसी से जीवों की भिन्नता ([illegible]) मालूम होती है। जो कोई प्राप्त शक्ति का उपयोग अपनी रक्षा में न कर अपने ऊपर प्रहार करने में ही करता है वह मूर्ख है—महान्ध है, उसे बुद्धिमान कौन कहेगा? उसी तरह इस भवोदधि को पार कर जाने के साधन पास रखते हुए भी जो इसमें डूब जाता है उसे पागल और न कहें तो क्या कहें?

ज्यों २ ऐसा ज्ञान मात्र मिलता जाता है त्यों २ साथ ही साथ उसकी दृष्टि भी बदलती जाती है। इस दृष्टि को जैन दर्शन में एक विशिष्ट नाम दिया है और उसको समकित दृष्टि कहते हैं। यह दृष्टि प्राप्त कर जो कुछ भी पुरुषार्थ किया जाता है वही सच्चा पुरुषार्थ है वही सच्चा पराक्रम है।

यावन्मात्र जीव मोक्ष के साधक हैं। कौन ऐसा है जो दुःखसे छूटना नहीं चाहता? कौन ऐसा है जिसे सुख प्रिय नहीं है? यह अवस्था केवल मोक्ष में ही प्राप्त होती है। इसलिये भले ही जगत में असंख्य मतमतान्तर हों, भले ही सब की मान्यताएं जुदी हों फिर भी दुःख का अन्त सभी चाहते हैं और वे प्रकारान्तर से मोक्ष चाहते हैं—ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। मोक्षप्राप्ति ही सब का ध्येय है, उस ध्येय की प्राप्ति की भूमिका यह संसार है; उसमें भी मनुष्यभव की प्राप्ति उसकी साधना का विशेष उच्च स्थान है और यदि इस जन्म में प्राप्त साधनों का सुमार्ग में प्रयोग किया जाय तो साधक की यह अनन्तकालीन साधना सफल हो जाती है—यह अतृप्त पिपासा अमृत पान से तृप्त हो जाती है और मुक्ति-लक्ष्मी स्वयमेव इसकी शोध करती हुई चली आती है। जहां सच्चा पराक्रम होता है वहां कौन सी ऋद्धि सिद्धि अलभ्य रहती है!

जैसे जीव भिन्न २ होते हैं वैसे ही उनके साधनों एवं प्रकृति में भी भिन्नता होती है इसलिये सम्यक्त्व पराक्रम के भिन्न २ साधन भिन्न २ रूप से यहां ७३ भेदों में कहे हैं जिनमें से कुछ तो सामान्य, कुछ विशेष और कुछ विशेषतर कठिन हैं। इनमें से अपने २ इष्ट साधनों को छांट कर प्रत्येक साधक को पुरुषार्थ में प्रयत्न तथा विचार करना अति आवश्यक है।

सुधर्मस्वामी ने जम्बूस्वामी से कहाः—हे आयुष्मन्! उन भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा था वह मैंने सुना है। यहां पर वस्तुतः श्रमण भगवान काश्यप महावीर प्रभु ने सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन का वर्णन किया है।

जिनको सुन्दर रीति से सुन कर उनपर विश्वास तथा श्रद्धा लाकर, (अडग विश्वास लाकर) उनपर रुचि जमाकर

उसको ग्रहण कर, उसका पालन कर, उसका शोधन, कीर्तन, तथा आराधन करके तथा (जिनेश्वरों की) आज्ञानुसार पालन कर बहुत से जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, परिनिर्वाण प्राप्त हुए हैं और उनने अपने सब दुःखों का अंत कर दिया है।

उसका यह अर्थ इस प्रकार क्रमसे कहा जाता है, यथा:— (१) संवेग (मोक्षाभिलाषा), (२) निर्वेद (वैराग्य), (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणा (महापुरुषों तथा साधर्मियों की सेवा), (५) आलोचना (दोषों की विचारणा) (६) निन्दा (अपने दोषों की निन्दा), (७) गर्हा (अपने दोषों का तिरस्कार), (८) सामायिक (आत्मभाव में लीन होने की क्रिया), (९) चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति), (१०) वंदन, (११) प्रतिक्रमण (पाप का प्रायश्चित करनेकी क्रिया), (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान (त्याग की प्रतिज्ञा करना), (१४) स्तवस्तुतिमंगल (गुणीजन की स्तुति), (१५) काल प्रतिलेखना (समय निरीक्षण), (१६) प्रायश्चित्तकरण (प्रायश्चित्त क्रिया) (१७) क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रतिप्रच्छना, (प्रश्नोत्तर), (२१) परिवर्तना (अभ्यास का पुनरावर्तन), (२२) अनुप्रेक्षा (पुनः २ मनन करना), (२३) धर्मकथा, (२४) [illegible] (२५) [illegible] (२६) संयम (२७) तप (२८) व्यवदान (कर्म का [illegible] (२९) [illegible] (३०) [illegible] (३१) [illegible] (३२) [illegible] होना), (३३) [illegible] (३४) [illegible] ([illegible] का

त्याग), (३५) आहार प्रत्याख्यान, (३६) कषाय प्रत्याख्यान (३७) योग प्रत्याख्यान (पाप क्रिया मन, वचन, तथा काय की दुष्प्रवृत्ति रोकना), (३८) शरीर का त्याग, (३९) सहायक का त्याग, (४०) भक्तप्रत्याख्यान, (अनशन—अपना अन्तकाल आया जानकर आहार का सर्वथा त्याग करना), (४१) स्वभाव प्रत्याख्यान (दुष्ट प्रकृतियों से निवृत्त होना), (४२) प्रतिरूपता (मन वचन तथा काय की एकता), (४३) वैयावृत्य (गुणीजन की सेवा), (४४) सर्वगुणसम्पन्नता (आत्मिक सब गुणों की प्राप्ति), (४५) वीतरागता (रागद्वेष से विरक्ति), (४६) क्षमा, (४७) मुक्ति (निर्लोभता), (४८)सरलता (मायाचार का त्याग) (४९) मृदुता (निरभिमानता), (५०) भावसत्य (शुद्ध अन्तःकरण), (५१) करणसत्य (सच्ची प्रवृत्ति), (५२) योगसत्य (मन, वचन और काय का सत्यरूप व्यापार), (५३) मनोगुप्ति (मन का संयम), (५४) वचन गुप्ति (वचन का संयम), (५५)काय गुप्ति (काय का संयम), (५६) मनः समाधारणा (मन को सत्य में एकाग्र करना) (५७) वाक् समाधारणा (योग्य मार्ग में वचन का उपयोग), (५८) काय समाधारणा (केवल सत्याचरण में शरीर की प्रवृत्ति करना), (५९) ज्ञानसम्पन्नता (ज्ञान की प्राप्ति), (६०) दर्शन सम्पन्नता (सम्यक्त्व की प्राप्ति (६१) चारित्र सम्पन्नता (शुद्ध चारित्र की प्राप्ति), (६२) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह (कान का संयम), (६३) आंख का संयम, (६४) घ्राणेन्द्रिय (नाक का) संयम, (६५) जीभ का संयम, (६६) स्पर्शेन्द्रिय का संयम, (६७)क्रोध विजय, (६८) मान विजय, (६९) माया विजय, (७०) लोभ विजय, (७१) रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन (खोटे श्रद्धान) का विजय, (७२) शैलेशी (मन, वचन के भोगों को रोकना, पर्वत जैसी अडोल—अकंप स्थिति का प्राप्त होना), तथा (७३) अकर्मता (कर्म रहित अवस्था)।

भगवान बोलेः—

(१) शिष्य पूछता है कि—हे पूज्य! संवेग (मुमुक्षुता) से जीवात्मा क्या प्राप्त कर सकता है? (कौन से गुण को प्राप्त होता है)? गुरु बोलेः—हे भद्र! संवेग से अनुपम धर्मश्रद्धा जागृत होती है और उस अपूर्व आत्मश्रद्धा से शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न होता है और वह वैराग्य अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का नाश करता है। (इस समय कषायों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम—इन तीनों में से योग्यतानुसार कोई एक अवस्था होती है)। ऐसा जीवात्मा नवीन कर्मों को नहीं बांधता और कर्मबंधन का निमित्त कारण मिथ्यात्व की शुद्धि कर सम्यक्त्व का आराधक होता है। सम्यक्त्व की इस प्रकार की विशुद्धि होने (क्षायिक सम्यक्त्व की इस स्थिति) से कोई कोई जीव तद्भवमोक्षगामी होते हैं और जो उसी जन्म में मोक्ष में नहीं जाते वे आत्मविशुद्धि के कारण तीसरे जन्म में तो अवश्य मोक्षगामी होते हैं।

टिप्पणी—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में ३ भव से अधिक भव नहीं करते।

(२) हे पूज्य! जीवात्मा को निर्वेद (निरासक्ति) से कौन कौन गुण प्राप्त होते हैं?

गुरु ने कहा—हे भद्र! निर्वेद से यह जीवात्मा देव, मनुष्य तथा पशु संबंधी समस्त प्रकार के कामभोगों से शीघ्र ही आसक्ति रहित हो जाता है और

इस कारण सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त हुआ वह समस्त आरम्भ (पापक्रिया) का परित्याग कर देता है। आरंभ का परित्याग कर वह भवपरंपरा का नाश प्रयत्नपूर्वक कर डालता है और मोक्ष-मार्ग पर गमन करता है।

(३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! धर्मश्रद्धा होने से सातावेद-नीय (कर्म से प्राप्त हुए) सुख मिलने पर भी वह उसमें लिप्त नहीं होता है और वह वैराग्यधर्म को प्राप्त होता है। वैराग्यधर्म को प्राप्त हुआ वह गृहस्थाश्रम को छोड़ देता है। गृहस्थाश्रम को छोड़ कर वह अनगार (त्यागी) धर्म को धारण कर शारीरिक तथा मानसिक छेदन, भेदन, संयोग तथा वियोग जन्य दुःखों का नाश कर देता है (नूतन कर्मबंधन से निवृत्त होकर पूर्वकर्म का क्षय कर डालता है) और अव्याबाध (बाधारहित) मोक्षसुख को प्राप्त होता है।

(४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! गुरुजन तथा साधर्मीजनों की सेवा करने से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! गुरुजन और साधर्मीयों की सेवा करने से सचमुच विनय (मोक्ष के मूल कारण) की प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से सम्यक्त्व को रोकने-वाले कारणों का नाश होता है और उसके द्वारा वह जीव नरक, पशु, मनुष्य, तथा देवगति सम्बन्धी दुर्गति को अटकाता है और जगत में बहुमान कीर्ति को प्राप्त होता

है तथा अपने अनेक गुणों से शोभित होता है। देव-भक्ति के अपने अपूर्व साधन द्वारा वह मनुष्य तथा देव-गति को प्राप्त करता है; मोक्ष तथा सद्गति के मार्ग (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र) को विशुद्ध बनाता है अर्थात् विनय प्राप्त होते ही वह सर्व प्रशस्त कार्यों को साध लेता है और साथ ही साथ दूसरे जीवों को भी इसी मार्ग में प्रेरित करता है।

(५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! आलोचना करने से जीवात्मा को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आलोचना करने से जीवात्मा; माया, निदान तथा मिथ्यात्व (असद् दृष्टि)—इन तीनों शल्यों को, जो मोक्षमार्ग में विघ्नरूप हैं तथा संसार बंधन के कारण हैं उनको दूर करता है और ऐसा कर वह अलभ्य सरलता को प्राप्त कर लेता है। सरल जीव; कपटरहित हो जाता है और इससे ऐसा (सरल) जीव स्त्रीवेद अथवा नपुंसकवेद का बंध नहीं करता और यदि कदाचित उनका पूर्व में बंध होचुका हो तो उसका भी नाश कर डालता है।

टिप्पणी—स्त्रीवेद [illegible] जिससे स्त्री का लिंग [illegible] है

(६) शिष्य ने पूछा—[illegible] आत्मनिंदा से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—[illegible] आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्तापरूपी भट्टी सुलगती है और वह पश्चा-

टिप्पणी—मनुष्य जैसा ध्यान किया करता है वैसा ही उसका आन्तरिक वातावरण बन जाता है और अन्त में वह वैसा ही हो जाता है।

(१०) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य! वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! वंदन करने से जीव ने यदि नीचगोत्र का बंध भी किया हो तो वह उसको छेद कर ऊँच गोत्र का बंध करता है (अर्थात् नीच वातावरण में पैदा न होकर उच्च वातावरण में पैदा होता है) और सौभाग्य और आज्ञा का सफल सामर्थ्य को प्राप्त करता है (बहुत से जीवों अथवा समाज का नेता बनता है) और दाक्षिण्यभाव (विश्ववल्लभता) को प्राप्त होता है।

(११) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! प्रतिक्रमण के द्वारा जीवात्मा ग्रहण किये हुए व्रतों के दोषों को दूर कर सकता है। ऐसा शुद्ध व्रतधारी जीव हिंसादि के आस्रव से निवृत्त होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त होकर संयमयोग से अलग न हो कर आजन्म संयम में समाधिपूर्वक विचरता है।

(१२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! कायोत्सर्ग करने से जीवको क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! कायोत्सर्ग से भूत तथा वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त कर जीव शुद्ध बनता

है और जैसे भारवाहक (कुली) बोझ उतरने से शान्तिपूर्वक विचरता है वैसे ही ऐसा जीव भी चिंता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में सुखपूर्वक विचरता है।

(१३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रत्याख्यान करनेवाला जीव आते हुए नये कर्मों को रोक देता है कर्मों के रोध होने से इच्छाओं का रोध होता है। इच्छारोध होनेसे सर्व पदार्थों में वह तृष्णा रहित होजाता है और तृष्णारहित जीव परम शान्ति में विचरता है।

(१४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव को किसकी प्राप्ति होती है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूपी बोधिलाभ को प्राप्त होता है और ऐसा बोधिलाभ प्राप्त जीव देहान्त में मोक्षगामी होता है अथवा उच्च देवगति (१२ देवलोक, नव ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान) की आराधना (प्राप्ति) करता है

(१५) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्वाध्याय काल के प्रति-लेखन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! काल प्रतिलेखन से जीवात्मा ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर डालता है

(१६) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या प्राप्ति होती है ।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रायश्चित्त करने वाला जीव पापों की विशुद्धि करता है और व्रत के अतिचारों (दोषों) से रहित होता है और शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण कर कल्याण के मार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और यह क्रम से चारित्र तथा उसके फल (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है ।

(१७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्षमा से चित्त आह्लादित होता है और ऐसा आह्लादित जीव; जगत के यावन्मात्र जीवों (प्राणी, भूत, जीव तथा सत्व इन चारों) के प्रति मैत्रीभाव पैदा कर सकता है और ऐसा निरवलित जीव; अपने भाव को विशुद्ध बनाता है और भावविशुद्धि वाला जीव अन्त में निर्भय हो जाता है ।

टिप्पणी—दूसरों के दोषों तथा भूलों पर विवाद न करने से चित्त प्रसन्न रहता है और इस सतत चित्तप्रसन्नता से विशुद्ध प्रेम विश्व पर प्रकट होता है । न वह किसी को भय देता है और न उसे ही किसी से भयभीत होना रहता है ।

(१८) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है ।

(१९) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ? वांचन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वांचन से कर्मों की निर्जरा होती है और सूत्रप्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ज्ञानप्राप्ति होने से तीर्थंकर भगवानों के सत्य धर्म का अवलंबन मिलता है और सत्यधर्म का सहारा मिलने से कर्मों की निर्जरा कर आत्मा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पणी—वांचन में स्ववांचन (अपने आप पढ़ना) तथा अध्ययन (किसी दूसरे के पास जाकर पढ़ना) इन दोनों का समावेश होता है।

(२०) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! शास्त्रचर्चा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव शास्त्रचर्चा करता है वह महापुरुषों के सूत्रों तथा उनके रहस्य इन दोनों को समझ सकता है। सूत्रार्थ का जानकार जीव शीघ्र ही कांक्षामोहनीय कर्म का क्षय कर देता है। (यहां कांक्षामोहनीय का अर्थ चारित्रमोहनीय है)

(२१) शिष्य ने पूछा —हे पूज्य ! सूत्रपुनरावर्तन करने से जीव को क्या लाभ है।

गुरु ने कहा —हे भद्र ! जो जीव सूत्रपुनरावर्तन (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन) करता है उसको अपने भूले हुए पाठ फिर याद हो जाते हैं और ऐसा आत्मा को अक्षरलब्धि (अक्षरों का स्मरण) तथा पदलब्धि (पदों का स्मरण) होता है।

(२२) (शिष्य ने पूंछाः—) हे पूज्य ! अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! जो अनुप्रेक्षा (तत्त्व का पुनः २ चिन्तवन) करता है वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों का गाढ़ बंधनों से बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को शिथिल बनाता है। यदि वे लँबी स्थिति की हों तो वह उन्हें खपाकर थोड़ी स्थिति की बना देता है। तीव्र रस (विपाक) की हों तो उन्हें कम रस की बना डालता है। बहुप्रदेशी हों तो उनको अल्पप्रदेशी बना डालता है। कदाचित आयुष्य कर्म का बंध हो और न भी हो (तद्भव मोक्षगामी हो) ऐसे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता और वह अनादि अनंत दीर्घकाल से चले आते हुए संसाररूपी अरण्य (वन) को शीघ्र ही पार होजाता है।

(२३) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! धर्मकथा कहने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! धर्मकथा कहने से निर्जरा होती है और जिनेश्वर भगवानों के प्रवचनों की प्रभावना होती है और प्रवचनों की प्रभावना से भविष्यकाल में वह जीव केवल शुभकर्मों का ही बंध करता है (अशुभ-कर्मों का आस्रव रुक जाता है)।

(२४) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! सूत्रसिद्धान्त की आराधना से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! सूत्र की आराधना करने से जीवात्मा का अज्ञान दूर होता है और अज्ञानरहित जीव कभी भी कहीं पर भी दुःख नहीं पाता है।

(२५) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! मन की एकाग्रता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! मन की एकाग्रता से जीव अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है (मन को अपने वश में रखता है)।

(२६) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! संयमधारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! जो जीव संयमधारण करता है उसे अनास्रवत्व (आते हुए कर्मों का बंध होना) प्राप्त होता है।

(२७) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! शुद्धतप करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! शुद्धतप करने से जीवात्मा अपने पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

(२८) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सर्व कर्मों के विखरने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कर्मों के विखर जाने से जीवात्मा सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हो जाता है और ऐसा जीव ही अन्त में सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त होकर

अनन्तशांति को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है।

(२९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! विषयजन्य सुखों से दूर रहकर संतोषी जीवन बिताने से क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! संतोषीजीव व्याकुलता का नाश कर देता है व्याकुलतारहित जीव शांति का अनुभव करता है और शांतपुरुष ही स्थिरबुद्धि होता है और ऐसा स्थिरबुद्धि जीव हर्ष, विषाद अथवा शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्मों का क्षय करता है।

टिप्पणीः—आत्मा को जो कर्म संयम धारण नहीं करने देते उसे चारित्र-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(३०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! (विषयादि के) अप्रतिबंध से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव विषयादि के बंधनों से अप्रतिबद्ध रहता है उसे असंगता (आसक्ति-हीनता) प्राप्त होती है। असंगता से उसे चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है और उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में न बधकर एकान्त शान्ति को प्राप्त होता है और आसक्तिरहित होकर विचरता है।

(३१) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! एकान्त (स्त्री इत्यादि संग रहित) स्थान, आसन तथा शयन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा —हे भद्र ! एकान्तसेवन से चारित्र का रक्षण होता है और शुद्ध चरित्रधारी जीव रसासक्ति

(३४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! उपधि (संयमी के उपकरणों) का पच्चक्खाण करने से जीव को क्या लाभ है।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! उपधि (संयमी के उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव उनको उठाने, रखने अथवा रक्षा करने की चिन्ता से मुक्त होता है और उपधि-रहित जीव निस्पृही (स्वाध्याय अथवा ध्यान चिन्तन में निश्चिन्त) होकर उपधि न मिलने से कभी दुःखी नहीं होता।

(३५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सर्वथा आहार के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सर्वथा आहार त्याग करने की योग्यतावाला जीव आहार त्याग से जीवन की लालसा से छूट जाता है और जीवन की लालसा से छूटा हुआ जीव भोजन न मिलने से कभी भी खेदखिन्न नहीं होता।

(३६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कषायों के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कषायों के त्याग से जीव को वीतराग भाव पैदा होता है और वीतराग भाव प्राप्त जीव के लिये सुखदुःख सब समान हो जाते हैं।

(३७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) के त्याग से जीवात्मा को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! योग के त्याग से जीव अयोगी (योग की प्रवृत्ति रहित) हो जाता है और ऐसा

अयोगी जीव निश्चय से नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है।

(३८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! शरीर त्यागने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! शरीर त्यागने से सिद्ध भगवान के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त होता है और सिद्ध के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह जीवात्मा लोकाग्र में जाकर परमसुख को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध (सर्व कर्मों से विमुक्त) होता है।

(३९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! सहायक के त्याग से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! सहायक का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी और अल्पभाषी होकर संयम, संवर और समाधि में बहुत दृढ़ होता है।

(४०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाले जीव को क्या लाभ होता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाला जीवात्मा अपने अनशन द्वारा सैंकड़ों भवों का नाश कर देता है (अल्प संसारी होता है)।

(४१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य सर्व योगावरोध क्रिया करने से जीव को क्या लाभ है?

२२

होने से वह जीवात्मा शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से मुक्त होता है।

(४५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! वीतराग भाव धारण करने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! वीतराग पुरुष स्नेहबंधनों का नाश कर देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों में विरक्त हो जाता है।

टिप्पणीः—वीतरागता यहां केवल वैराग्यसूचक है।

(४६) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! क्षमा धारण करने से जीव विकट परिषहों को जीत लेने की क्षमता प्राप्त करता है।

(४७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! निर्लोभिता से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा हे भद्र! निर्लोभी जीव अपरिग्रही होता है और इन कष्टों से बच जाता है जो धनलोलुपी पुरुषों को सहने पड़ते हैं। निर्लोभी जीव ही निराकुल रहता है।

(४८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! निष्कपटता से जीव को क्या

(४९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! मृदुता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मृदुता से जीव अभिमान-रहित हो जाता है और वह कोमल मृदुता को प्राप्त कर आठ प्रकार के मदरूपी शत्रु का संहार कर सकता है।

टिप्पणी:—जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ तथा ऐश्वर्य ये ८ मद के स्थान हैं।

(५०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! भावसत्य (शुद्ध अंतःकरण) से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! भावसत्य होने से हृदय-विशुद्धि होती है और ऐसा जीवात्मा ही अर्हन्त प्रभु द्वारा निरूपित धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म का आराधक पुरुष ही लोक परलोक दोनों को साध सकता है।

(५१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से [illegible] करने की शक्ति पैदा होती है और [illegible] जैसा बोलता है वैसा ही करता है

[illegible] — [illegible] योगसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! [illegible] योगों की [illegible]

टिप्पणी:—[illegible] वचन और काय की प्रवृत्ति।

प्राप्ति से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है और उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

(५७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव अपने बोधि सम्यक्त्व की पर्यायों को निर्मल किया करता है और सुलभ बोधि को प्राप्त होकर दुर्लभ बोधित्व को दूर करता है।

(५८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! काय को संयम में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! काय को सम्यभाव से संयम में स्थापित करने से जीव के चारित्र की पर्यायें निर्मल होती हैं और चारित्रनिर्मल जीव ही यथाख्यात चारित्र की साधना करता है। यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि कर वह चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को नाश कर डालता है और बाद में वह जीव शुद्ध [illegible] मुक्त होकर अनन्त शान्ति का भोग करता है और [illegible] है।

(५९) शिष्य ने [illegible] ज्ञानसम्पन्नता से जीव को क्या लाभ [illegible]

गुरु ने कहा—हे भद्र [illegible] ज्ञानसम्पन्न जीव यथार्थ [illegible] जान सकता है और [illegible] जीव अनुशासित इस संसार-

रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होता। जैसे डोरा (धागा) वाली सुई खोती नहीं है वैसे ही ज्ञानीजीव संसार में पथ भ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्व-पर दर्शन को बराबर जान कर असत्य मार्ग में नहीं फँसता।

(६०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! दर्शनसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! दर्शनसंपन्न जीव संसार के मूल कारण रूपी अज्ञान का नाश करता है। उसकी ज्ञानज्योति कभी नहीं बुझती और उस परम ज्योति में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन द्वारा अपनी आत्मा को संयोजित कर यह जीव सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

(६१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चारित्रसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चारित्रसंपन्नता से यह जीव शैलेशी (मेरु जैसा निश्चल ध्यान) भाव को उत्पन्न करता है और ऐसा निश्चल भाव प्राप्त करनेके बाद अवशिष्ट चार कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अनन्त शान्ति का उपभोग करता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

(६२ शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह करने से यह जीव सुन्दर असुन्दर शब्दों में रागद्वेषरहित होकर वर्तता है और ऐसा रागद्वेषनिवर्तित अणगार कर्मबंध से सर्वथा मुक्त रहता है तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(६३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चक्षुसंयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चक्षु (आंख) संयम से यह जीव सुरूप किंवा कुरूप दृश्यों में रागद्वेषरहित हो जाता है और इस कारण रागद्वेषजनित कर्म बन्धों को नहीं बांधता और पहिले जो कर्मबन्ध किया है उसका भी क्षय कर देता है।

(६४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! नाक का संयम करने से जीव सुवास किंवा कुवास के पदार्थों में रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! रसना इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा हे भद्र ! रसना (जीभ) के संयम से स्वादु किंवा अस्वादु रसों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इससे रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६६) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से सुन्दर किंवा असुन्दर स्पर्शों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! क्रोधविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा – हे भद्र ! क्रोधविजय से जीव को क्षमागुण की प्राप्ति होती है और ऐसा क्षमाशील जीव क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६८) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! मानविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मान के विजय से जीव को मृदुता नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और मार्दव गुण संयुक्त ऐसा जीव मानजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६९) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य मायाविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र मायाचार को जीतने से जीव को आर्जव (निष्कपटता नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और फिर आर्जवगुण समन्वित यह जीव माया-

जनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

(७०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! लोभविजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! लोभ को जीतने से यह जीव सन्तोष रूपी परमामृत की प्राप्ति करता है और ऐसा सन्तोषी जीव लोभजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(७१) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन के विजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन-विजय से सबसे पहिले वह जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना में उद्यमी बनता है और बाद में आठ प्रकार के कर्मों की गांठ से छूटने के लिये वह २८ प्रकार के मोहनीयकर्मों का क्रमपूर्वक क्षय करता है। इसके बाद ५ प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्मों, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म तथा पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म, इन तीनों कर्मों को एक ही साथ खपाता है। इन कर्म चतुष्टय को नाश कर लेने के बाद वह जीवात्मा श्रेष्ठ, संपूर्ण, आवरणरहित, अंधकाररहित, विशुद्ध तथा लोकालोक में प्रकाशित ऐसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद जब तक वह सयोगी (योग की प्रवृत्ति वाला) रहता है तब तक ईर्यापथिक

क्रिया का बंध करता है। इस कर्म की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है और इसका विपाक (फल) अति सुख कर होता है। यह कर्म पहिले समय में बंध होता है, दूसरे समय में उदय होता है और तीसरे समय में फल देकर क्षय हो जाता है। इस तरह पहिले समय में बंध, दूसरे समय में उदय, तथा तीसरे समय में निर्जरा होकर चौथे समय में वह जीवात्मा सर्वथा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पणी:—कर्मों का सविस्तर वर्णन जानने के लिये तेतीसवां अध्ययन पढ़ो।

(७२) इसके बाद वह केवली भगवान अपना अवशिष्ट आयु कर्म भोगकर निर्वाण से दो घड़ी (अन्तर्मुहूर्त) पहिले मन, वचन और काय की [illegible] प्रवृत्तियों का रोध कर सूक्ष्म- [illegible] है। [illegible] वचन [illegible] करने से [illegible] इस [illegible] और [illegible] है।

टिप्पणी:—[illegible]

क्षपकश्रेणि (कर्मों का क्षय करने वाली श्रेणि) का जीवात्मा दसवें गुणस्थानक से ग्यारहवें गुणस्थान में न आकर सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस दशा में उसकी कषायें क्षीण हो जाती हैं और इसलिये वह तेरहवें गुणस्थानक में पहुँच कर केवली हो जाता है। इस समय आठ कर्मों में से चार कर्मों के (निःसत्व नाम मात्र के) आवरण रह जाते हैं इसलिये वह सयोगी केवली, जबतक इस शरीर की स्थिति रहती है तब तक इस शरीर सम्बन्धी क्रियाओं के कारण कर्म करते रहते हैं किन्तु वे कर्म आसक्तिरहित होने के कारण (आत्मा को) बन्धन कर्ता नहीं होते और तत्क्षण ही खिर जाते हैं। इस क्रिया को ईर्यापथ की क्रिया, कहते हैं।

आयुष्यकाल के पूर्ण होने के समय शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद जिसे सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति कहते हैं—उसको चिन्तन करते हुए सबसे पहिले मनोयोग, वचनयोग, तथा काययोग इस प्रकार इन तीनों को क्रम से रोककर अन्त में श्वासोच्छ्वास को भी रोककर वह आत्मा बिलकुल अकंप बनता है। इस स्थिति को शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में, अ, इ, उ, ऋ, तथा लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने समय मात्र की ही स्थिति होती है। बाद में शुक्ल ध्यान के चौथे भेद व्युपरतक्रियानिवृत्ति द्वारा अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों का नाशकर आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

शुद्ध गमन की [illegible] होने के कारण वह आत्मा ऊँचा ऊँचा वहाँ तक [illegible] है जहाँ तक उसको गति में सहायक [illegible] रहता है [illegible] हो ही नहीं सकता इस[illegible] वह शुद्ध [illegible] हो जाता है। वह स्थान [illegible] (सिद्धशिला—मोक्ष स्थान) कहते हैं

आत्मा ने जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त की होती है उसका ⅓ भाग जो (मुख, कान, पेट आदि खाली अंगों में) पोला होता है। इतना भाग छोड़कर बाकी का ⅔ भाग में उस सिद्धात्मा के उसके प्रदेश उस सिद्धस्थान में व्याप्त हो जाते हैं। इसे उसकी अवगाहना कहते हैं। भिन्न २ सिद्धात्माओं के प्रदेश परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से मिल नहीं जाते और प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। ऐसी परम आत्माओं का वीतराग, वीतमोह और वीत द्वेष होने से इस संसार में पुनरागमन नहीं होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक उन्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ

तपो मार्ग

३०

समस्त संसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से घिरा हुआ है। सांसारिक समस्त प्राणी आधि, व्याधि तथा उपाधि से दुःखी हो रहे हैं। कभी शारीरिक, तो कभी मानसिक तो कभी दूसरी उपाधियां आदि की दुःख परंपरा लगी हुई रहती है और जीव इन दुःखों से निरन्तर छूटना चाहते रहते हैं।

प्रत्येक काल में प्रत्येक उद्धारक पुरुषों ने जुदे २ प्रकार की औषधियां बताई हैं। भगवान महावीर ने सर्व संकटों के निवारण के लिये मात्र एक ही उत्तम कोटि की जड़ी बूटी बताई है और उसका नाम है तपश्चर्या।

तपश्चर्या के मुख्य [illegible] (२) आन्तरिक, तथा [illegible]

[illegible] तपश्चर्या [illegible] का सम्बन्ध रखता है [illegible] प्रवृत्तियां भी [illegible] परिस्थिति में शरीर [illegible] हो जाता है। अब

(३) तथा पांच समिति तथा तीन गुप्तिसहित, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय, निरभिमानी तथा शल्यरहित जीव अनास्रव होता है।

(४) उपरोक्त गुणों से विपरीत दोषों द्वारा राग तथा द्वेष से संचित किये हुए कर्म जिस विधि से नष्ट होते हैं उस विधि को एकाग्र मन से सुनो।

(५) जैसे किसी बड़े तालाब का पानी, पानी आने के मार्ग बंद होने से तथा अंदर का पानी बाहर उलीचने से तथा सूर्य के ताप द्वारा क्रमशः सुखाया जाता है, वैसे ही—

(६) संयमीपुरुष के नये पापकर्म भी व्रत द्वारा रोक दिये जाते हैं और पहिले के करोड़ों जन्मों से संचित किया हुआ पाप तपश्चर्या द्वारा झर जाता है।

(७) यह तप बाह्य तथा आन्तरिक इस तरह दो प्रकार का होता है। बाह्य तथा आन्तरिक इन दोनों तपों के ६—६ भेद और हैं।

(८) (बाह्य तप के भेद कहते हैं)—(१) अणसण (अनशन), (२) ऊणोदरी (ऊनोदरी) (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता—इस प्रकार बाह्य तप के ये ६ भेद हैं।

(९) अणसण के भी दो भेद हैं—(१) सावधिक उपवास अर्थात् अमुक मर्यादा तक अथवा नियत काल तक उपवास करना, (२) मृत्युपर्यंत का अणसण (अंतकाल तक सर्वथा निराहार रहना)। इसमें से पहिले प्रकार में

शरीर अप्रमत्त तथा संयमी बनता है तभी आत्मा में जिज्ञासा जागृत होती है और तभी वह चिन्तन, मनन, योगाभ्यास, ध्यान आदि आत्मसाधना के अङ्गों में प्रवृत्त हो सकती है।

इसीलिये बाह्य तपश्चर्या में (१) अणसण (उपवास), (२) ऊणोदरी (अल्पाहार), (३) भिक्षाचरी (प्राप्त भोजन में से केवल परिमित आहार लेना), (४) रसपरित्याग (स्वादेन्द्रिय का निग्रह), (५) कायक्लेश (देहदमन की क्रिया), और (६) वृत्ति संक्षेप (इच्छाएं घटाते जाना) इन ६ तपश्चर्याओं का समावेश किया है। ये छहों तपश्चर्याएं अमृत के समान फलदायी हैं। उनका जिस २ दृष्टि से जितने प्रमाण में उपयोग होगा उतना २ पाप घटता जायगा और पाप घटने से धार्मिक भाव अवश्य ही बढ़ते ही जायंगे। परन्तु इनका उपयोग अपनी शक्त्यनुसार होना चाहिये।

आन्तरिक तपश्चर्याओं में (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) कायोत्सर्ग (देहाध्यास का त्याग) इन ६ गुणों का समावेश होता है। ये छहों साधन आत्मोन्नति की भिन्न २ सीढ़ियां हैं। आत्मोन्नति के इच्छुक साधक इनके द्वारा बहुत कुछ आत्मसिद्धि कर सकते हैं।

भगवान बोले—

(१) राग और द्वेष से संचित किये हुए पापकर्म को भिक्षु जिस तप द्वारा क्षय करता है उसका वर्णन मैं करता हूं। उसको तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) हिंसा, असत्य, अदत्त, मैथुन तथा परिग्रह इन पांच महापापों तथा रात्रिभोजन से विरक्त जीवात्मा अनास्रव होता है। (अर्थात् आते हुए नये कर्मों को रोकता है)

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम में कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) कर्बट (छोटे छोटे गाव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पत्तन (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढ़ाई अढ़ाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोंपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे ढेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहा भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम में कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) करबट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पत्तन (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढाई अढाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे टेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

वाड़ा (बाड़ लगाया हुआ प्रदेश), (२५) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के क्षेत्रों में से भी अभिग्रह (मर्यादा) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिक्षार्थ जाऊँगा, अन्यत्र नहीं जाऊँगा— इसे क्षेत्र ऊणोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणीः—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन भिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्थ साधक भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं।

(१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेढ़ेमेढ़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे। इस तरह ६ प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है।

टिप्पणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का विधान मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है।

(२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी अमुक प्रहर में ही भिक्षा मिलेगी तो लूँगा—ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर भिक्षाचरी करना उसे कालऊणोदरी तप कहते हैं।

(२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहिले अथवा तीसरे प्रहर के अंतिम चौथे भाग में ही यदि भिक्षाचरी मिलेगी तो ही मैं लूँगा—इस प्रकार का संकल्प करे तो वह भी कालऊणोदरी तप कहाता है।

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उससे कम से कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेड़ (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) कर्बट (छोटे छोटे गाम वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पत्तन (जहां सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढ़ाई अढ़ाई कोस तक जहां गाम हो ऐसा प्रदेश), (१२) संबाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोंपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे टेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

वाडा (वाड लगाया हुआ प्रदेश), (२५) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के क्षेत्रों में से भी अभिग्रह (मर्यादा) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिक्षार्थ जाऊँगा, अन्यत्र नहीं जाऊँगा— इसे क्षेत्र ऊनोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणी:—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन भिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्थ साधक भी अपने क्षेत्र में १८ प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं।

(१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेढ़ेमेढ़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे। इस तरह ६ प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है।

टिप्पणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का नियम मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है।

(२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी अमुक प्रहर में ही भिक्षा मिलेगी तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर भिक्षाचरी करना उसे कालऊनोदरी तप कहते हैं।

(२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहले अथवा तीसरे प्रहर के अन्तिम चौथे भाग में ही यदि भिक्षाचरी मिलेगी तो ही मैं लूंगा—इस प्रकार का संकल्प करे तो वह भी कालऊनोदरी तप कहलाता है।

(२२) यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलंकार सहित होंगे अथवा अमुक बालक, युवा अथवा वृद्ध ने अमुक प्रकार के वस्त्र पहिने होंगे—

(२३) अथवा अमुक रंग के वस्त्र पहिने होंगे, अथवा वे रोष सहित अथवा हर्ष सहित होने के चिन्हों सहित होंगे, ऐसे दाताओं के हाथ से ही मैं भोजन ग्रहण करूँगा—अन्य के हाथ से नहीं, इस प्रकार का संकल्प कर भिक्षाचरी में जाना उसे भावऊणोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—ऐसे कठोर संकल्प बारंबार सफल नहीं होते इसलिये भिक्षा नहीं मिलती इससे बारबार भूखा रहने की तपश्चर्या करनी पड़े यह संभव है।

(२४) द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, तथा भाव से उपरोक्त चारों नियमों सहित होकर जो साधु विचरता है उसे 'पर्यवचर' तपश्चर्या करनेवाला साधु कहते हैं।

टिप्पणी—पर्यव का अर्थ है जिसमें उपरोक्त चारों बातें पाई जांय उस तप को 'पर्याय ऊणोदरी तप' कहते हैं।

(२५) आठ प्रकार की गोचरी में तथा सात प्रकार की एषणा में भिक्षु जो २ दूसरे अभिग्रह करता है उसे भिक्षाचरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—अन्य ग्रन्थों में इस तप का 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है। वृत्ति संक्षेप का अर्थ यह है कि जीवन संबंधी आवश्यकताओं को कम से कम कर डालना। यह तीसरा बाह्य तप है।

(२६) दूध, दही, घी आदि रसों तथा अन्य रसपूर्ण पदार्थों अथवा मिष्ट, कडुआ, चपरा, नमकीन, कसैला आदि रसों

ने भी मर्यादा करना (जैसे आज मैं घी या शक्कर का बना हुआ पदार्थ नहीं खाऊंगा, आज मैं नीम या नमकीन नहीं खाऊंगा आदि) उसे रसपरित्याग नामकी तपश्चर्या कहते हैं।

(२७) वीरासन (कुर्सी की तरह बैठ कर) आदि विविध आसन काया को कष्ट देने में (आत्मा के लिये) हित कर हैं। ऐसे आसनों द्वारा अपनी काया को कसना उसे कायक्लेश नामका तप कहते हैं।

(२८) एकान्त स्थान अथवा जहां कहीं भी ध्यानकी अनुकूलता हो, जहां कोई आता जाता न हो ऐसे स्त्री, पशु तथा नपुंसक से रहित स्थान में शयन करना तथा आसन जमाना—इसे संलीनता नामका तप कहते हैं।

(२९) सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे बोले:—हे जम्बू! बाह्यतप के भेद मैंने तुम्हें संक्षेप में कहे हैं। अब मैं तुम्हें आन्तरिक तपों के विषयमें कहता हूं, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(३०) (१) प्रायश्चित, (२) विनय, (३) वैयावृत्य (सेवा), (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, तथा (६) कायोत्सर्ग—ये ६ आभ्यंतर तप हैं।

(३१) भिक्षु आलोचनादि दस प्रकारके प्रायश्चित करता है उसे प्रायश्चित तप कहते हैं।

टिप्पणी—प्रायश्चित पापके छेदन करनेको कहते हैं, इसके दस प्रकार हैं— (१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप (७) छेद (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य, और (१०) पारांचिक। [illegible] मूलमें [illegible] है।

(३२) (१) गुरु आदि बड़े पुरुषों के सामने जाना, (२) उनके सामने दोनों हाथ जोड़ना, (३) आसन देना, (४) गुरुकी अनन्यभक्ति करना, तथा (५) हृदयपूर्वक सेवा करना—इसे विनय तप कहते हैं।

टिप्पणी—अभिमान नष्ट हुए बिना सच्ची सेवा सुश्रूषा नहीं होती।

(३३) आचार्यादि दस स्थानों की शक्त्यनुसार सेवा करना उसे वैयावृत्य तप कहते हैं।

टिप्पणी—आचार्यादिमें इन १० का भी समावेश होता है:—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगिष्ठ, सहाध्यायी, साधर्मी, कुल, गण, तथा संघ।

(३४) (१) पढ़ना, (२) प्रश्नोत्तर करना, (३) पढ़े हुए पाठको पुनः २ घोकना (रटना), (४) पठित पाठका उत्तरोत्तर गम्भीर विचार करना तथा (५) उसकी धर्मकथा कहना—ये ५ भेद स्वाध्याय तप के हैं।

(३५) समाधिवंत साधक आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का ही चिन्तवन करे इसे महापुरुष ध्यान तप कहते हैं।

(३६) सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया की अन्य सब प्रवृत्ति छोड़ देता है, शरीर को हिलाता डुलाता नहीं है उसे कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं।

(३७) इस प्रकार दोनों प्रकार के तपों को यथार्थ समझकर जो मुनि आचरण करता है वह पंडित साधक सांसारिक समस्त बन्धनों से शीघ्र ही छूट जाता है।

टिप्पणीः—अनुभवी द्वारा अनुभूत यह उत्तम रसायन है। आत्मा के समस्त रोगों को दूर करने की मात्र यही एक रामबाण औषधि है। दर्दियों के लिये इन्हीं उपायों को अपने जीवन में अजमा लेना और अपने जीवन का उद्धार कर लेना यह दूसरी औषधियों की तलाश में निरर्थक इधर उधर भटकते फिरने की अपेक्षा लाख दर्जे उत्तम है।

विद्या होने पर अहंकार भाव आजाना सहज संभव है। क्रिया में अज्ञानता, हठता अथवा जड़ता होने की संभावना है। तपश्चर्या में ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों का समावेश होता है इसलिये अहंकार, अज्ञान, हठता, तथा जड़ता का नाश कर जो पण्डित साधक; आत्म-सन्तोष, आत्मशान्ति, तथा आत्मतेज को प्रकट करते हैं वे ही स्वय-मेव प्रकाशित होकर तथा लोक को प्रकाश देकर अपने आयुष्य, शरीर, इन्द्रियादि साधनों को छोड़ कर साध्यसिद्ध होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'तपोमार्ग' सम्बन्धी बीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

चरणविधि

चारित्र के प्रकार

३१

पाप का प्रवाह चला आता है उसको रोकने की क्रिया को संवर कहते हैं। पापमें से छूट जाना अथवा धर्ममें लीन होजाना एक ही बात है। पापका आधार मात्र क्रिया पर नहीं है किन्तु क्रिया के पीछे लगे हुए आत्माके अध्यवसायों पर है। कलुषित वासनासे किया हुआ कार्य, संभव है ऊपर से बड़ा अच्छा और पुनीत भी मालूम पड़ता है किन्तु वस्तुतः वह मलीन है और व्यर्थ है। शुभभावना से किया हुआ कार्य, देखने में भले ही कनिष्ठ अथवा निम्नकोटि का मालूम होता हो फिर भी वह उत्तम है और आत्मशुद्धि के लिये यथेष्ट है।

आत्माके साथ यह शरीर भी लगा हुआ है, इसके लिये खाना, पीना, चलना, बैठना, उठना इत्यादि सभी कार्य किये बिना हम नहीं रह सकते। उनमें निवृत्त होना—कदाचित् थोड़े समय के लिये संभव हो सकता है किन्तु जीवन भर के लिये वैसा रहना असंभव है। मान लीजिये कि हम बाहर की

क्रियाएं थोड़ी देर के लिये बंद करने में समर्थ भी हों तो भी अपनी आन्तरिक क्रियात्मक प्रवृत्तियां तो चालू ही रहती हैं—वे तो होती ही रहती हैं, इसीलिये भगवान महावीर ने क्रिया को बंद करने का उपदेश न देकर, क्रिया करते हुए भी उपयोग को शुद्ध तथा स्थिर रखने का उपदेश दिया है। शुद्ध उपयोग ही आत्मलक्ष्य है और आत्मलक्षता की प्राप्ति होगई तो फिर क्रिया सम्बन्धिनी कलुषितता आसानी से ही दूर हो जाती है।

भगवान बोले—

(१) जीवात्मा को केवल सुख देनेवाली और जिसका आचरण करके अनेक जीव इस भवसागर को तैर कर पार हुए हैं ऐसी चारित्रविधि का उपदेश करता हूँ, उसे तुम ध्यान-पूर्वक सुनो।

(२) (मुमुक्षु को चाहिये कि) वह एक तरफ से निवृत्त हो और दूसरे मार्ग में प्रवृत्त हो (अर्थात् असंयम तथा प्रमत्त योग से निवृत्त हो तथा संयम एवं अप्रमत्त योग में प्रवृत्त हो)

(३) पापकर्म में प्रवृत्ति करानेवाले केवल दो पाप हैं—एक राग और दूसरा द्वेष। जो साधक भिक्षु इन दोनों को रोकता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(४) तीन दण्ड, तीन गर्व, और तीन शल्यों को जो भिक्षु छोड़ देता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—तीन दण्ड ये हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायदण्ड। तीन गर्वों के नाम ये हैं—ऋद्धिगर्व, रसगर्व, सातागर्व। तीन शल्यों के नाम ये हैं—मायाशल्य, निदानशल्य, और मिथ्यात्वशल्य।

(५) जो भिक्षु; देव, मनुष्य, तथा पशुओं के आकस्मिक उपसर्गों को समभावसे सहन करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(६) जो भिक्षु; चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो तरह के ध्यानों को हमेशा के लिये छोड़ देता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान।

(७) पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग, पाँच समिति, पाँच पापक्रियाओं का त्याग—इन ४ बातों में जो साधु निरन्तर अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(८) छ लेश्या, छकाय तथा आहार के ६ कारणों में जो साधु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(९) सात पिंड ग्रहण की प्रतिमाओं तथा सात प्रकार के भयस्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रहता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१०) आठ प्रकार के मद, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रक्षण तथा दस प्रकार के भिक्षुधर्ममें जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(११) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं तथा बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं में जो साधु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

टिप्पणी—क्रिया अर्थात् अशुभ मन वचनादि की क्रिया।

(१२) तेरह प्रकार के क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के प्राणी-समूहों में तथा पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१३) जो भिक्षु (सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथमस्कंध के) सोलह अध्ययनों में तथा सत्रह प्रकार के असंयमों में निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१४) अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य के स्थानों में, उन्नीस प्रकार के ज्ञाता अध्ययनों में तथा बीस प्रकार के समाधिस्थ स्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१५) इक्कीस प्रकार के सबल दोषों में एवं बाईस प्रकार के परिषहों में जो साधु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१६) सूत्रकृतांग सूत्र के कुल तेईस अध्ययनों में तथा चौबीस प्रकार के अधिक रूपवाले देवों में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१७) जो भिक्षु पचीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत स्कंध, बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्र के एवं निशीथ के छब्बीस विभागों में अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

(१८) सत्ताईस प्रकार के अणगारगुणों में तथा अट्ठाईस प्रकार के आचार प्रकल्पों (प्रायश्चित्तों) में जो भिक्षु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१९) उन्तीस प्रकार के पापसूत्रों के प्रसंगोंमें तथा तीस प्रकार के महामोहनीय के स्थानों में जो भिक्षु—हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२०) इकत्तीस प्रकार के सिद्ध भगवान के गुणों में, बत्तीस प्रकार के योग संग्रहों में तथा तेत्तीस प्रकार की असातनाओं में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२१) उपरोक्त सभी स्थानों मे जो साधु सतत उपयोग रखता है वह पंडित साधु इस संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—संसार यह तो सद्बोध सीखने की पाठशाला है। इसका प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ नवीन पाठ देता ही रहता है। मात्र आवश्यकता है इस बात की कि आत्माका उपयोग उधर हो, दृष्टि उधर रहे। यदि हमारी दृष्टि में अमृत होगा तो जगत में हमें सर्वत्र अमृत ही अमृत दिखाई देगा और हमें सर्वत्र अमृत ही की प्राप्ति होगी। यहां एक से लेकर तेतीस संख्या तक की भिन्न भिन्न वस्तुएं बताई हैं। इनमें से कुछ ग्राह्य हैं, कुछ त्याज्य हैं किन्तु उनका ज्ञान होने पर ही ये दोनों क्रियाएं हो सकती हैं। इसलिए यथार्थ दृष्टि से इन सबको जानने का प्रयत्न करना यह मुमुक्षु के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'चरणविधि' नामक इकत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

प्रमादस्थान

३२

जब यह संसार ही अनादि है तो दुःख भी अनादि ही मानना चाहिये। परन्तु अनादि होने पर भी, यदि दुःख का मूल ढूंढकर उस मूल को ही दूर कर दिया जाय तो संसार में रहते हुए भी दुःखपाश से छूटा जा सकता है। सर्व दुःखों से रहित होना इसी का नाम तो मोक्ष है। सम्यग्ज्ञान के सहारे ऐसे मोक्ष की प्राप्ति अनेक महापुरुषों ने की है, (प्राप्त) कर सकते हैं और प्राप्त कर सकेंगे। सर्वज्ञ का यह अनुभव वाक्य है।

जन्ममृत्यु के दुःख का मूल कारण कर्मबंधन है। उस कर्म बन्धन का मूल कारण मोह है और मोह, तृष्णा, राग या द्वेष इत्यादि में प्रमाद ही का मुख्य हाथ है। कामभोगों की आसक्ति यही प्रमाद स्थान है। प्रमाद से अज्ञान की वृद्धि होती है। अज्ञान (अथवा मिथ्यात्व) से शुद्ध दृष्टि का विपर्यास होता है और चित्त में मलिनता का कचरा इकट्ठा होता जाता है। इसीलिए ऐसा मलिन चित्त मुक्ति मार्ग के अभिमुख नहीं हो सकता।

गुरुजन तथा महापुरुषों की सेवा, सत्संग, तथा सद्वाचन से जिज्ञासा जागृत होती है। सच्ची जिज्ञासा के जागृत होने पर सत्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, संयम, आदि जैसे उत्तम गुणों की तरफ रुचि बढ़ती हैं और ऐसे आचरण से पूर्व की मलिनता धुल कर शुद्ध भावनाएं जागृत होती हैं। ऐसी भावनाएं चिन्तन, मनन,तथा निदिध्यास में उपयोगी तथा आत्मविकास में खूब ही सहायक हो सकती है।

भगवान बोले—

(१) अनादि काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों की मुक्ति का एकान्त हितकारी तथा कल्याणकारी उपाय कहता हूँ उसे तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) संपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान तथा मोह के सम्पूर्ण त्याग से, राग एवं द्वेष के क्षय से, एकान्तसुखकारी मोक्षपद की प्राप्ति की जा सकती है।

उस मोक्ष की प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

(३) बाल जीवों के संग से दूर रहना, गुरुजन तथा वृद्ध— अनुभवी महापुरुषों की सेवा करना तथा एकान्त में रहकर धैर्यपूर्वक स्वाध्याय, सूत्र तथा उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तवन करना—यही मोक्ष का मार्ग (उपाय) है।

(४) तथा समाधि की इच्छावाले तपस्वी साधु को परिमित एवं शुद्ध आहार ही ग्रहण करना चाहिये, निपुणार्थ बुद्धिवाले (मुमुक्षु) साथी को ढूंढना चाहिये और स्थान भी एकांत (ध्यान धरने योग्य) ही पसन्द करना चाहिये।

नष्ट हुई समझो जिसको किसी भी वस्तु का प्रलोभन नहीं होता। और जिसका लोभ ही नष्ट हो चुका है उसके लिये आसक्ति जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती।

(९) इसलिये राग, द्वेष और मोह—इन तीनों को मूलसहित उखाड़ फेंकने की इच्छावाले साधु को जिन जिन उपायों को ग्रहण करना चाहिये उनको मैं यहां क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ। (उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो)

(१०) विविध प्रकार के रसों (रसवाले पदार्थों) को अपने कल्याण के इच्छुक साधु को भोगना नहीं चाहिये क्योंकि रस, इन्द्रियों को उत्तेजित कर देते हैं और जैसे मीठे फल-वाले वृक्ष के ऊपर पक्षी टूट पड़ते हैं तथा उसे दुःख देते हैं वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में उन्मत्त हुए मनुष्य के ऊपर कामभोग भी टूट पड़ते हैं और उसे पीड़ित करते हैं।

(११) जिस तरह बहुत ही सूखे (ईंधन रूप) वृक्षों से भरे हुए वन में, पवन के झकोरों सहित उत्पन्न हुई दावानल बुझती नहीं है उसी तरह विविध प्रकार के रसवाले आहारों को भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती (इसलिये रस सेवन करना किसी भी मनुष्य के लिये हितकारी नहीं है)।

(१२) जैसे उत्तम औषधियों से रोग शान्त होजाता है वैसे ही दमितेन्द्रिय, एकान्त शयन एकान्त आसन इत्यादि भोगने-वाले तथा अल्पाहारी मुनि के चित्त का रागरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकते। (अर्थात् आसक्तियां उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं)

(१३) जैसे बिल्लियों के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त (उचित) नहीं है वैसे ही स्त्रियों के स्थान के पास ब्रह्मचारी पुरुष का निवास भी योग्य नहीं है।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी के लिये जिस तरह स्पर्शेन्द्रिय का संयम तथा मनोसंयम आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्रियों को भी इन दोनों बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१४) अनघ तथा दर्शनाभिलाषी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास हास्य, मंजुलवचन, अंगोपांग की गठन, कटाक्ष आदि देखकर उन्हें अपने चित्त में न लावे और न इच्छापूर्वक उन्हें देखने का प्रयत्न ही करे।

(१५) उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत में लगे हुए और ध्यान के अनुरागी साधक स्त्रियों का दर्शन, उनकी वांछा, उनका चिन्तवन अथवा उनका गुणकीर्तन न करें इसीमें उनका हित है।

(१६) मन, वचन और काय इन तीनों का संयम रखनेवाले समर्थ योगीश्वर जिनको डिगाने में दिव्य कान्तिधारी देवांगनाएं भी सफल नहीं हो सकतीं, ऐसे मुनियों को भी स्त्री आदि से रहित एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर मुमुक्षु को एकान्तवास ही सेवन करना चाहिये।

(१७) मोक्ष की आकांक्षावाले संसार से डरे हुए और धर्म में [illegible] मुनि के [illegible] [illegible] मनहरण [illegible] स्त्रियों [illegible] कठिन है उतना [illegible]

(३९) सुन्दर शब्द में एकान्त आसक्त वह रागी और अमनोज्ञ शब्द पर द्वेष करता है और अन्त में उसके दुःख से खूब ही पीड़ित होता है; किन्तु ऐसे दोष में विरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(४०) अत्यन्त स्वार्थी, मलिन वह अज्ञानी जीव शब्द की आसक्ति का अनुसरण करके अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न २ उपायों से उन्हें परिताप तथा पीड़ा देता है।

(४१) मधुर शब्द की आसक्ति में मूर्छित हुआ जीव मनोज्ञ शब्द को प्राप्त करने में, उसका रक्षण करने में, उसके वियोग में, अथवा उसके नाश में कभी भी सुख नहीं पाता है! उसको भोग करते हुए भी उसको तृप्ति नहीं होती।

(४२) शब्द भोगने में असन्तुष्ट उस जीव की मूर्छा के कारण उस पर और भी आसक्ति बढ़ जाती है और वह अधिक आसक्त जीव कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तोष दोष से दुःखी होकर वह दूसरे का शब्द भी ग्रहण करने लगता है। (दूसरों के भोगों में चोरी से हिस्सा बटाता है)।

(४३) तृष्णा से पराजित होने से वह जीव पराए का ग्रहण (चोरी) करता है फिर भी वह शब्द का लालच तथा उसकी वृद्धि करने में अतीव असन्तुष्ट [illegible] है और लोभ के दोष [illegible] असन्तोष [illegible] का सहारा लेता है और [illegible] दुःख से मुक्त नहीं होता।

(४४) झूठ बोलने के पहिले, बोलने के बाद तथा बोलते समय भी वह असत्यभाषी दुःखी होता है। इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करते तथा शब्द में असक्त रहते हुए और भी दुःखी और असहायी बन जाता है।

(४५) शब्द में अनुरक्त ऐसे जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले? वह शब्द का उपभोग करते हुए भी अत्यन्त क्लेश तथा दुःख पाता है फिर उनको प्राप्त करने के लिए भोक्तव्य दुःख की बात ही क्या?

(४६) इसीप्रकार अमनोज्ञ शब्द में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्पराएँ उत्पन्न करता है तथा दुष्टचित्त होनेसे केवल कर्मों को संचित करता है और उन कर्मों का परिणाम केवल दुःखकर ही होता है।

(४७) परन्तु शब्द से विरक्त हुआ जीव उस तरह के शोक से रहित रहता है और जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलपत्र जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहता हुआ वह जीव बाह्य दुःख परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(४८) गंध यह घ्राणेन्द्रिय (नाक) का ग्राह्य विषय है। सुगंध राग का तथा दुर्गंध द्वेष का कारण है। जो जीव इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(४९) नासिका गंध ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ गंध राग का हेतु है और अमनोज्ञ गंध द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

में रहने पर भी (वह जीव) उपरोक्त दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

(६१) जीभ रस का ग्राहक है। रस यह जीभ का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु है। जो जीव इन दोनों में समभाव रखता है वही वीतरागी है ।

(६२) जीभ रस को ग्रहण करती है और रस जीभ का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(६३) जैसे रस का भोगी मच्छ मांस के लोभ से लोहे के कांटे में फंस जाता है वैसे ही रसों में तीव्र आसक्तिवाला जीव भी अकालमृत्यु को प्राप्त होता है ।

(६४) और जो जीव अमनोज्ञ रस पर तीव्र द्वेष रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है इसमें रस का जरा भी दोष नहीं है।

(६५) मनोज्ञ रस में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ रस पर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष से वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता ।

(६६) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव रस में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है ।

(८४) इस तरह स्पर्श में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? स्पर्श के जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये, उसने कष्ट भोगा उस स्पर्श के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही मिलते हैं।

(८५) इस प्रकार अमनोज्ञ स्पर्श में द्वेष करने वाला यह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्म संचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(८६) परन्तु जो जीव स्पर्श से विरक्त रह सकते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं और जल में उत्पन्न हुआ कमल दल, जैसे जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।

(८७) भाव यह मन का विषय है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का हेतु है। जो इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(८८) मन यह भाव का ग्राहक है और भाव यह मन का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का कारण है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(८९) जो जीव भावों में अति आसक्त होते हैं वे जीव, मनचाही हथिनी के पीछे दौड़ता हुआ मदोन्मत्त हाथी जैसे खाई में पड़ कर मर जाता है वैसे ही अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(९०) और जो जीव अमनोज्ञ भाव पर द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख का पात्र होता है। इस तरह यह जीव अपने

ही दुर्गन्ध दोष से दुःखी होता है उसमें गंध का किंचि-
न्मात्र भी दोष नहीं है।

(९१) मनोज्ञ भाव में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष में वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(९२) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव, भाव में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।

(९३) फिर भी भाव की आसक्ति तथा मूर्च्छा से मनोज्ञ भाव को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके विनाश में उस जीव को सुख कहाँ मिलता है? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(९४) जब भावको भोगते हुए भी वह असन्तुष्ट रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और अति आसक्त वह जीव कभी भी संतुष्ट नहीं होता और असन्तोष के कारण लोभाकृष्ट होकर वह दुःखी जीव दूसरों द्वारा नहीं दिये हुए पदार्थ को भी चोरी करने लगता है।

(९५) इस प्रकार चोरी करने वाला, तृष्णा द्वारा पराजित तथा भाव भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दुःख से छूट नहीं होता है।

(९६) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा

इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करके भी भाव में तो अतृप्त ही रहने से वह और भी दुःखी तथा असहाय होता है।

(९७) इस तरह भाव में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है? जिस भाव के पदार्थों को प्राप्त करने में उसने कष्ट भोगा उस भाव के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही उठाने पड़ते हैं।

(९८) इस प्रकार अमनोज्ञ भाव में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और उसके द्वेषपूर्ण चित्त होने से वह केवल कर्मसंचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(९९) परन्तु जो जीव भाव से विरक्त रह सकता है वह शोक से भी रहित रहता है जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलदल जल से अलिप्त रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी उप-रोक्त प्रकार के दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(१००)इस तरह इन्द्रियों तथा मन के विषय आसक्त जीव को केवल दुःख के ही कारण होते हैं। वे ही विषय वीतरागी पुरुष को कदापि थोड़ा भी दुःख नहीं दे सकते।

(१०१)कामभोग के पदार्थ स्वयमेव तो समता या विकारभाव उत्पन्न करते नहीं हैं किन्तु रागद्वेष से भरी हुई यह आत्मा ही उनमें आसक्त होकर मोह के कारण (उन विषयों में) विकारभाव करने लगती है।

(१०२)(मोहनीय कर्म से जो १४ भाव उदित होते हैं वे ये हैं:—)
(१) क्रोध (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) जुगुप्सा,

(६) अरति (७) रति, (८) हास्य, (९) भय, (१०) शोक, (११) पुरुषवेद का उदय, (१२) स्त्रीवेद का उदय, (१३) नपुंसकवेद का उदय, और (१४) भिन्न भिन्न प्रकार के खेद। (ये सब भाव मोहासक्त जीवों को हुआ करते हैं।)

(१०३) इस तरह कामभोग में आसक्त हुआ जीव इस प्रकार के अनेक दुर्गतिदायक दोषों को इकट्ठा कर लज्जित होता है और सर्व स्थानों में अप्रीतिकारी करुणोत्पादक दीन बना हुआ वह दूसरे बहुत से दोषों को भी प्राप्त होता है।

(१०४) इसी तरह इन्द्रियों के विषयरूपी चोर के वशीभूत हुआ भिक्षु भी अपनी सेवा करने के लिये साथी (शिष्यादि) की इच्छा करता है किन्तु साधु के आचार को पालना नहीं चाहता और संयमी होने पर भी तप के प्रभाव को न पहिचान कर पश्चात्ताप (अरे, क्यों मैंने त्याग किया ? इत्यादि) किया करता है। इस तरह से अनेकानेक विकारों (दोषों) को वह उत्पन्न करता जाता है।

(१०५) इसके बाद ऐसे विकारों के कारण, मोहरूपी महासागर में डूबने के उसे भिन्न भिन्न निमित्त कारण मिल जाते हैं और वह अनुचित कार्यों में लग जाता है। उससे उत्पन्न हुए दुःख को दूर कर सुख की इच्छा से वह आसक्त प्राणी हिंसादि कार्यों में भी प्रवृत्ति करने लगता है।

(१०६) किन्तु जो विषयविकारों से विरक्त हैं उन्हें इन्द्रियों के इस प्रकार के शब्दादि विषय मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ के भाव ही उत्पन्न नहीं कर सकते अर्थात् रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते)।

(१०७)इस तरह संयम के अनुष्ठानों द्वारा संकल्प-विकल्पों में समता प्राप्त कर उस विरागी आत्मा की शब्दादि विषयों के असंकल्प से (दुष्ट चिंतवन न करने से) कामभोग सम्बन्धी तृष्णा बिलकुल क्षीण हो जाती है।

(१०८)कृतकृत्य वह वीतरागी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को एक क्षणमात्र में खपा देता है और उसी तरह दर्शनावरणीय एवं अन्तराय को खपा देता है। (इस तरह समस्त घातिया कर्मों का नाश कर देता है)

(१०९)मोह एवं अन्तरायरहित वह योगीश्वर आत्मा; जगत के यावन्मात्र पदार्थों को जानने एवं अनुभव करने लगती है तथा पाप के प्रवाह रोककर शुक्लध्यान की समाधि प्राप्त कर सर्वथा शुद्ध हो जाती है और आयु के क्षय होने पर मोक्ष को प्राप्त होती है।

(११०)जो दुःख यावन्मात्र संसारी जीवों को पीड़ित कर रहा है उस सर्व दुःख से तथा संसार रूपी अनादि अनन्त रोग से ऐसा प्रशस्त जीवात्मा सर्वथा मुक्त हो जाता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अनन्त सुख का स्वामी होता है।

(१११)अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए दुःख बन्धन की मुक्ति का यह मार्ग भगवान ने इस प्रकार कहा है। बहुत से जीव क्रमपूर्वक इस मार्ग का अनुसरण कर अत्यन्त सुखी (मोक्ष को प्राप्त) हुए हैं।

टिप्पणी—शब्द रूप, गंध, रस तथा स्पर्श ये पांच विषय हैं। ये अपना अपना अनुकूल इन्द्रिय को उत्तेजित करने का काम करते हैं। संकल्पात्मक करने हैं मात्र निमित्त मिलना चाहिये। दूसरी बात

यह है कि इन सब विषयों का बड़ा ही गाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध है और जो एक भी इन्द्रिय का दास होता रहा तो दूसरी इन्द्रियों पर काबू रह ही नहीं सकता। जो कोई जिह्वा का दास होता है वह दूसरी इन्द्रियों का भी दास बना देता है इसलिये एक भी इन्द्रिय को छूट देना यह यद्यपि देखने में तो एक छोटी सी भूल मालूम होती है, किन्तु यह महान अनर्थ का कारण है जिसका परिणाम एक नहीं किन्तु अनेक भवों तक भोगना पड़ता है इसलिये मुमुक्षु साधक को दान्त, शान्त और अप्रमत्त रहना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूं—

इस तरह 'प्रमादस्थान' सम्बन्धी बत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

विकसित होने पर उस शुभ कर्मरूपी सुनहरी बेड़ियों से भी छू
जाने का पुरुषार्थ करना—इसी में जीवन की सफलता समा
हुई है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'कर्मप्रकृति' संबंधी तेतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

(१७) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं की गंध केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों अथवा घिस जाते हुए चंदनादि की सुगंध से भी अनंत गुनी अधिक प्रशस्त होती है।

(१८) कृष्ण, नील, और कापोती इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श आरी, गाय बैल की जीभ और साग वृक्ष के पत्र की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कर्कश होता है।

(१९) तेजो, पद्म और शुक्ल इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श मक्खन, सरसों के फूल, बूर नामक वनस्पति के स्पर्श की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कोमल होता है।

(२०) इन छहों लेश्याओं के परिणाम अनुक्रम से तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी और दोसौ तेतालीस प्रकार के होते हैं।

टिप्पणी—तीन अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के प्रत्येक के तीन तीन भेद और करते जाना चाहिये।

लेश्याओं के लक्षण

(२१-२२) पांचों आस्रवों (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग) का निरन्तर सेवन करनेवाला, मन वचन और काय का असंयमी; छः काय की हिंसा में आसक्त, आरम्भ में मग्न; पाप के कार्यों में प्रबल पराक्रमी और क्षुद्र परिणामवाला और अजितेन्द्रिय, धर्म का अहित करनेवाला [illegible] कुटिल [illegible] इन सब योगों में लगे हुए जीव के [illegible] लेश्या समझना चाहिये।

(२३-२४) ईर्ष्यालु, कदाग्रही (असहिष्णु) तप ग्रहण न करनेवाला, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, लंपट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ, प्रमादी, स्वार्थी, आरंभी, क्षुद्र तथा साहसी इत्यादि प्रकार के जीव को नील लेश्याधारी समझना चाहिये।

(२५-२६) वाणी और आचार में (अप्रामाणिक), मायावी, अभिमानी, अपने दोष को छुपानेवाला, परिग्रही, अनार्य, मिथ्यादृष्टि, चोर और मर्मभेदी वचन बोलने वाला इन सब लक्षणों से युक्त मनुष्य को कापोती लेश्या का धारक जीव समझना चाहिये।

(२७-२८) नम्र, अचपल, सरल, अकुतूहली, विनीत, दांत, तपस्वी, योगी, धर्म में दृढ़, धर्मप्रेमी, पापभीरू, परहितैषी आदि गुणों से युक्त जीव को तेजो लेश्यावंत समझना चाहिये।

(२९-३०) जिस मनुष्य को क्रोध, मान, माया, और लोभ अल्पमात्रा में हों, जिसका चित्त संतोष के कारण शांत रहता हो, जो दमितेन्द्रिय हो; योगी, तपस्वी, अल्पभाषी, उपशम रस में मग्न, जितेन्द्रिय—इन सब गुणों से युक्त जीव को पद्म लेश्याधारी समझना चाहिये।

(३१) आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर जो धर्म एवं शुक्ल ध्यानों का चिन्तवन करता है तथा राग द्वेषरहित, शांतचित्त, दमितेन्द्रिय तथा पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों से युत—

(३२) अल्परागी अथवा वीतरागी, उपशांत, जितेन्द्रिय आदि गुणों में लवलीन उस जीव को शुक्ल लेश्यावान स[illegible] [illegible]हिये।

(३३) असंख्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणियों के समयों की जितनी संख्या है और संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही शुभ तथा अशुभ लेश्याओं के स्थान समझना चाहिये।

टिप्पणी—दस कोड़ाकोड़ी सागरों का एक अवसर्पिणी काल तथा दस कोड़ाकोड़ी सागरों का एक उत्सर्पिणी काल होता है।

(३४) कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित तेतीस सागर तक की है।

टिप्पणी—अगले जन्म में जो लेश्या मिलनेवाली होती है वह लेश्या मृत्यु के एक मुहूर्त पहिले आती है इसीलिये एक अन्तर्मुहूर्त समय अधिक जोड़ा गया है।

(३५) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागरोपम समझनी चाहिये।

(३६) कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(३७) तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दो सागर की है।

(३८) पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित दस सागर की है।

(३९) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसहित तेतीस सागर की है।

(४०) छह लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया। अब चारों गतियों में लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कहता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(४१) (नरक गति की लेश्या स्थिति कहते हैं) नरकों में कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(४२) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है।

(४३) कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तक की है।

(४४) नरक के जीवों की लेश्या स्थिति इस प्रकार कही; अब पशु, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(४५) तिर्यंच एवं मनुष्य गतियों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा सम्मूर्च्छन एवं गर्भज मनुष्यों में) शुक्ल लेश्या सिवाय बाकी सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल एक अन्तर्मुहूर्त की है। (इसलिये इसमें केवलज्ञानी भगवान का समावेश नहीं होता)।

(६१) इसलिये इन सभी लेश्याओं के परिणामों को जानकर भिक्षु अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओं में अधिष्ठान करे ।

टिप्पणी—शुभ को सब कोई चाहता है, अशुभ को कोई नहीं चाहता। किन्तु शुभ की प्राप्ति केवल विचार करने मात्र से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति के लिये तो निरन्तर शुभ प्रयत्न करना पड़ता है।

अप्रशस्त लेश्याओं की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ईर्ष्या, क्रोध, मोह, क्रूरता, असंयम, प्रमत्तता, वासना, माया आदि निमित्त मिलते ही जीवात्मा इच्छा अथवा अनिच्छा से सहसा कुछ का कुछ बन बैठता है किन्तु कोमलता, विश्वप्रेम, संयम, त्याग, अर्पणता, अनुराग आदि सब सद्गुणों की आराधना करना भी कठिन है। इसी में जीवात्मा की कसौटी होती है और यही उपयोग की जरूरत है। ऐसी कसौटी पर चढ़नेवाला साधक ही शुभ, सुन्दर तथा प्रशस्त लेश्याओं को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'लेश्या' संबंधी चौंतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

अणगाराध्ययन

साधु का चारित्र

२५

संसार के बाह्य बंधनों से छूट जाना कोई आसान बात नहीं है। संसार के क्षणभंगुर पदार्थों में बहुत से बिचारे भोगविलासी जीव रच पच रहे हैं, भटकते फिर रहे हैं और स्वच्छन्दी जीवन व्यतीत कर इस लोक तथा परलोकमें परम दुःख को देनेवाले कर्मों का सञ्चय कर रहे हैं।

यहां तो, किसी लघुकर्मी जीव को ही सद्भाव, वैराग्य या त्याग धारण करने की उत्कट अभिलाषा पैदा होती है। यहां तो धन इकट्ठा करने के लिये ही दौड़ा दौड़ी हो रही है, त्यागभाव किसी विरले को ही होता है।

ऐसा त्यागी जीवन यद्यपि दुर्लभ है फिर भी शायद मिल भी जाय तो भी घरबार, सगेसम्बन्धी आदि को छोड़ देने से ही जीवनविकास की इतिश्री नहीं हो जाती। जितना ऊंचा आदर्श होता है, जवाबदारी भी उतनी ही भारी होती है।

त्यागी का जीवन, त्यागी की सावधानी, त्यागी की मनोदशा आदि कितने कठोर, उदार और पवित्र होने चाहिये उनका यहां वर्णन किया है

भगवान बोलेः—

(१) जिस मार्ग का अनुसरण करके भिक्षु दुःख का अंत कर सकता है उस तीर्थङ्कर निरूपित मार्ग का तुम को उपदेश करता हूँ। उसको तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) जिस साधुने गृहस्थवास छोड़कर संयम-मार्ग अंगीकार किया है उसको इन आसक्तियों के स्वरूप को बराबर समझ लेना चाहिये जिनमें सामान्य मनुष्य बंधे हुए हैं।

टिप्पणी—'समझ लेने' से यह आशय है कि उन्हें समझ कर छोड़ देवे।

(३) इसी प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा तथा प्राप्त पदार्थों का परिग्रह (ममत्व भाव) इन ५ स्थानों का भी संयमी छोड़ देवे।

(४) चित्रों से सुशोभित, पुष्प अथवा अगरचंदन आदि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित सुंदर श्वेतवस्त्रों के चँदोवों द्वारा सुसज्जित, तथा सुन्दर किवाड़ वाले मनोहर घर की भिक्षु मन में भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—ऐसे स्थानों में न रहने के लिये जो कहा गया है उसका मतलब यह है कि बाहर का सौन्दर्य भी कई बार देखने से अपने अंतःकरण में विद्यमान रागादिक विकारों को उत्तेजित करने में निमित्त रूप हो जाता है।

(५) (उपरोक्त प्रकार के सुसज्जित) उपाश्रय में भिक्षु को अपना इन्द्रिय संयम रखना कठिन होता है क्योंकि वह स्थान काम और राग का बढ़ानेवाला होता है

(६) इसलिये स्मशान, शून्य घर, वृक्ष के मूल अथवा गृहस्थ के अपने लिये बनाए हुए सादे एकांत मकान में ही साधु को रागद्वेपरहित होकर निवास करना चाहिये।

टिप्पणी—उस समय में बहुत से श्राविक गृहस्थ अपनी धार्मिक क्रियाएं करने का एकांत स्थान अपने घर से अलग बनवा लिया करते थे।

(७) जिस स्थान में बहुत से जीवों की उत्पत्ति न होती हो, स्वपर के लिये पीड़ाकारक न हो, स्त्रियों के आवागमन से रहित हो, ऐसे एकांत स्थान में ही परम संयमी भिक्षु को निवास करना कल्पता है (योग्य है)।

(८) भिक्षु (स्वयं) घर बनावे नहीं, दूसरों द्वारा बनवावे नहीं, क्योंकि घर बनाने की क्रिया में अनेक जीवों की हिंसा होती है।

(९) क्योंकि गृह बनाने की क्रिया में सूक्ष्म एवं स्थूल अनेक स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिये संयमी पुरुष को घर बनाने की क्रिया का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(१०) उसी प्रकार आहार पानी बनाने (रांधने) और बनवाने (रँधवाने) में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिए प्राणियों की दया के लिये संयमी साधु स्वयं अन्न न पकावे और न दूसरों द्वारा पकवावे।

(११) जल, धान्य, पृथ्वी और ईंधन के आश्रय में रहते हुए अनेक जीव आहार-पानी बनाने में हने जाते हैं, इसलिए भिक्षु को भोजन नहीं पकाना चाहिये।

(१२) सब दिशाओं में शस्त्र की धारा की तरह फैली हुई और असंख्य जीवों का घात करनेवाली ऐसी अग्नि के समान अन्य कोई दूसरा शस्त्र घातक नहीं है। इसलिये साधु अग्नि कभी न जलावे।

टिप्पणी—भिक्षु स्वयं ऐसी कोई हिंसक क्रिया न करे, न दूसरों से करावे और न दूसरों को वैसा करते देखकर उसकी प्रशंसा ही करे।

(१३) खरीदने और बेचने की क्रियाओं से विरक्त तथा सुवर्ण एवं मिट्टी के ढेले को समान समझनेवाला ऐसा भिक्षु सोने चांदी की मन से भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी के ढेले को निर्मूल्य जानकर कोई उसे नहीं उठाता वैसे ही साधु सुवर्ण को देखते हुए भी उसे स्पर्श न करे क्योंकि त्याग करने के बाद उसके लिये सोना और ढेला दोनों समान हैं।

(१४) खरीदनेवाले को ग्राहक कहते हैं और जो बेचता है उसे बनिया (व्यापारी) कहते हैं इसलिये यदि क्रयविक्रय में साधु भाग ले तो वह साधु नहीं कहाता।

(१५) भिक्षा मांगने का लिया है व्रत जिसने ऐसे भिक्षु को भिक्षा मांगकर ही कोई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये, खरीद कर कोई वस्तु न लेनी चाहिये, क्योंकि खरीद करने और बेचने की क्रियाओं में दोष भरा हुआ है, इसलिये भिक्षावृत्ति ही सुखकारी है।

टिप्पणी—कंचन और कामिनी ये दो वस्तुएं संसार की बंधन हैं। इनके पीछे अनेकानेक दोष भरे हुए हैं। उनको एक बार त्याग देने के बाद त्यागी को उनका परिग्रह (संग्रह) तो क्या, उनका चिन-

यन तक न करना चाहिये। इसीलिये त्यागी के लिये भिक्षाचरी को ही धर्म बताया है।

(१६) सूत्र में निर्दिष्ट नियमानुसार ही प्रतिदिन घरों में सामु-दानिक गोचरी करते हुए आहार की प्राप्ति हो किंवा न हो फिर भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिये।

टिप्पणी—जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निंदित हो अथवा अभक्ष्य-भक्षी हो उनको छोड़कर भिक्षु को भिन्न २ कुलों में निर्दोष भिक्षा-वृत्ति करनी चाहिये।

(१७) अनासक्त तथा स्वादेन्द्रिय के ऊपर काबू रखनेवाला साधु रसलोलुपी न बने। यदि कदाचित सुन्दर स्वादु भोजन न मिले तो खिन्न न हो किंवा उसकी वांछा न करे। महामुनि स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिये भोजन न करे किन्तु संयमी जीवन का निर्वाह करने के उद्देश्य से ही भोजन करे।

(१८) चंदनादि का अर्पन, सुन्दर आसन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान, पूजन अथवा बलात् वंदन—इनकी इच्छा भिक्षु मन से भी न करे।

(१९) मरणपर्यंत साधु अपरिग्रही रहकर तथा शरीर का भी ममत्व त्यागकर, निदानरहित हो शुक्लध्यान का ध्यान धरे और अप्रतिबंधरूप से विहार करे।

(२०) कालधर्म (मृत्यु अवसर) प्राप्त हो तब चारों प्रकार के आहार त्याग कर वह समर्थ भिक्षु इस अन्तिम शरीर को छोड़ कर सब दुःखों से छूट जाय।

(२१) ममत्व और अहंकार रहित, अनाश्रवी और वीतरागी होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर फिर चिरन्तन मुक्ति को प्राप्त करे।

टिप्पणी—संयम यह तलवार की धार है। संयम का मार्ग देखने में सरल दीखने पर भी आचरने में अति कठिन है। संयमी जीवन सब किसी के लिये सुलभ नहीं है, फिर भी यह एक ही कल्याण का मार्ग है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'अणगार' संबंधी पैंतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

जीवाजीवविभक्ति

जीवाजीव पदार्थों का विभाग

३६

चेतन, जड़ (कर्मों) के संसर्ग से जन्ममरण के चक्र में घूमता फिरता है। इसी का नाम संसार है। ऐसे संसार की आदि का पता कैसे चले ? जब से चेतन है तभी से जड़ है—इस तरह ये दोनों तत्त्व जगत के अणु अणु में भर पड़े हैं। हमें उसकी आदि (प्रारंभ) की चिन्ता नहीं है क्योंकि उसकी आदि किस काल में हुई—यह जानने से हमें कुछ भी लाभ नहीं है और उसे न जानने में अपनी कुछ भी हानि नहीं है। क्योंकि जैन दर्शन मानता है कि इस संसार की आदि नहीं है और समस्त प्रवाह की दृष्टि से अनन्त काल तक संसार तो चालू ही रहेगा। फिर भी मुक्त जीवों की दृष्टि से मुक्ति (संसार का अन्त) थी और रहेगी।

चेतन और जड़ का सम्बन्ध चाहे जितना भी निविड (घट्ट) क्यों न हो, फिर भी यह संयोगिक संबंध है। समवाय संबंध का अन्त नहीं होता परन्तु संयोग संबंध का अन्त आज, कल और नहीं तो कुछ काल बाद हो जाना सम्भव है।

आज चेतन और जड़ दोनों अपना २ धर्म भुला बैठे हैं। चेतनमय जड़ और जड़मय चेतन ये दोनों परस्पर ऐसे तो एकाकार हुए दिखाई देते हैं कि सहसा उनको अलग २ नहीं पहिचाना जा सकता।

जड़ के अनादि संसर्ग से मलिन हुआ चैतन्य, जीवात्मा अथवा 'बहिरात्मा' कहलाता है और जब यह जीवात्मा अपने स्वरूप का अनुभव करने लगता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं और जो जीव कर्म रहित हो जाता है उसे 'परमात्मा' कहते हैं। जगत के पदार्थों को यथार्थ स्वरूप में जानने की इच्छा होना इसे 'जिज्ञासा' कहते हैं। ऐसी जिज्ञासा के परिणाम स्वरूप यह जगत् के समस्त पदार्थों में से मूलभूत मात्र दो पदार्थों को चुन लेता है। इसके बाद ही जीव की चैतन्य तत्त्व पर बराबर रुचि जमती है और तभी यह शुद्ध बनने के लिये शुद्ध चैतन्य की प्रतीति कर आगे बढ़ता है। जीव तत्त्व के भिन्न २ स्वरूपों को जानने के बाद वह स्वयं, जीव—अजीवतत्त्व इन दोनों तत्त्वों के संयोगिक बलों का विचार करने लगता है।

समस्त संसार का स्वरूप उसके सामने से मूर्तिमंत हो कर निकल जाता है तब वह आत्माभिमुख होता है और आत्मानुभव का आनन्द पाने लगता है। आत्मलक्ष्य पर ध्यान देकर आते हुए कर्मों को निरोध करता है, और धीमे २ पूर्व संचित कर्म समूह को खपाते हुए शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है।

भगवान बोले—

(१) जिस को जानकर भिक्षु संयम में उपयोग पूर्वक उद्यमवंत होता है ऐसा जीव तथा अजीव के भिन्न २ भेद संबंधी प्रकरण तुमसे कहता हूँ।

(२) जिसमें जीव तथा अजीव ये दोनों तत्त्व भरे हुए हैं उसे तीर्थंकरों ने 'लोक' कहा है और अजीव के एक देश को जहां मात्र आकाश का ही अस्तित्व है अन्य कोई पदार्थ नहीं है—उसे 'अलोक' कहा है।

(३) जीव और अजीवों का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव—इन चार प्रकारों से होता है।

(४) अजीव तत्त्व के मुख्य रूप से (१) रूपी, (२) अरूपी, ये दो भेद हैं। उनमें से रूपी के चार तथा अरूपी के १० भेद हैं।

(५) धर्मास्तिकाय के (१) स्कंध, (२) देश, तथा (३) प्रदेश तथा अधर्मास्तिकाय के (४) स्कंध, (५) देश (६) प्रदेश,

(६) और आकाशास्तिकाय के (७) स्कंध, (८) देश, (९) प्रदेश तथा (१०) अद्धा समय (कालतत्त्व)—ये सब मिलाकर अरूपी के १० भेद हैं।

टिप्पणी—किसी भी संपूर्ण द्रव्य के पूर्ण विभाग को 'स्कंध' कहते हैं। स्कंध के अमुक कल्पित विभाग को देश कहते हैं और एक छोटा टुकड़ा जिसका फिर कोई दूसरा खण्ड न होसके किन्तु स्कंध के साथ संबंधित हो तो उसे 'प्रदेश' कहते हैं और यदि वह स्कंध से अलग हो जाय तो उसे 'परमाणु' कहते हैं।

(७) (क्षेत्र दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों का क्षेत्र लोक प्रमाण है और आकाशास्तिकाय का क्षेत्र संपूर्ण लोक और अलोक दोनों है। समय

(काल) का क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र के बराबर है (अर्थात् ४५ लाख योजन है)।

(८) (काल दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य काल की अपेक्षा से अनादि एवं अनंत हैं अर्थात् प्रत्येक काल में शाश्वत हैं ऐसा भगवान ने कहा है।

(९) समय काल भी निरन्तर प्रवाह (व्यतीत) होने की दृष्टि से अनादि तथा अनंत है परन्तु किसी अमुक कार्य की अपेक्षा से वह सादि (आदि सहित) तथा सान्त (अन्त सहित) है।

(१०) (१) स्कंध, (२) स्कंध के देश, (३) उसके प्रदेश, तथा (४) परमाणु—ये ४ भेद रूपी पदार्थ के होते हैं।

(११) द्रव्य की अपेक्षा से, जब बहुत से पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर परस्पर में मिल जाते हैं तब स्कंध बनता है और जब वे जुदे २ रहते हैं तब 'परमाणु' कहलाते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से, स्कंध लोक के एक देश व्यापी हैं। और परमाणु समस्त लोक व्यापी है। अब पुद्गल स्कंधों की कालस्थिति चार प्रकार से कहता हूँ।

टिप्पणी—लोक के एक देश में अर्थात् अमुक एक आकाश प्रदेश में स्कंध हों और न भी हों, किन्तु वहां परमाणु तो अवश्य होता है।

(१२) संसार प्रवाह की दृष्टि से तो वे सब अनादि तथा अनन्त हैं किन्तु रूपान्तर होने तथा स्थिति की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१३) एक ही स्थान में रहने की अपेक्षा से इन रूपी अजीव पुद्गलों की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल तक की तीर्थंकर भगवानों ने कही है।

(१४) वे रूपी पुद्गल परस्पर जुदे २ होकर फिर मिल जांय उसका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनंत-काल तक का है।

(१५) (अब भाव से पुद्गल के भेद कहते हैं) वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा संस्थान (आकृति) की अपेक्षा से इनके ५ भेद हैं।

(१६) पुद्गलों के वर्ण (रंग) पांच प्रकार के होते हैं:—(१), काला, (२) पीला, (३) लाल, (४) नीला, और (५) सफेद।

(१७) गंध की अपेक्षा से इनके दो भेद हैं:—(१) सुगन्ध, और (२) दुर्गंध।

(१८) रस पांच प्रकार के होते हैं:—तीखा, (२) कडुआ, (३) कषैला, (४) खट्टा और (५) मीठा।

(१९) स्पर्श ८ प्रकार के होते हैं:—(१) कर्कश, (२) कोमल, (३) भारी, (४) हलका—

(२०) (५) ठंडा, (६) गर्म, (७) चिकना और (८) रूखा।

(२१) संस्थान (आकृति) के ५ भेद हैं:—(१) परिमण्डल (चूड़ी जैसा गोल), (२) वृत्ताकार (गेंद जैसा गोल), (३) त्रिकोणाकार, (४) चतुर्भुजा (५) समचतु-र्भुजाकार।

(२२) रंग से काले पदार्थ में (दो) गंध, (पांच) रस, (आठ) स्पर्श, (पांच) संस्थान इस तरह २० बोलों की भजना (हो या न हो) जाननी चाहिये ।

टिप्पणी—'भजना' शब्द लिखने का मतलब यह है कि जो स्थूल अनन्त प्रदेशी स्कंध पुद्गल, वर्ण में काला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान ये २० गुण जानना । परमाणु की अपेक्षा से तो एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श ये चार ही गुण होते हैं । इसी तरह सब जगह समझना चाहिये ।

(२३) जो पुद्गल वर्ण (रंग) में नीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२४) जो पुद्गल रंग में लाल हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२५) जो पुद्गल रंग में पीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२६) जो पुद्गल रंग में सफेद हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२७) जो पुद्गल सुगन्ध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२८) जो पुद्गल दुर्गंध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२९) जो पुद्गल तीखे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३०) जो पुद्गल कडुए रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(४३) जो पुद्गल वृत्ताकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४४) जो पुद्गल त्रिकोणाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४५) जो पुद्गल चतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४६) जो पुद्गल समचतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संक्षेप में कहा। अब जीवतत्त्व के विभाग को क्रमपूर्वक कहता हूँ।

(४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के अनेक भेद हैं। सो मैं तुम्हें कहता हूँ— तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

(४९) उन सिद्ध जीवों में स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश में, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी आदि) वेश से अथवा गृहस्थ वेश से भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।

टिप्पणी—स्त्री, पुरुष और वे नपुंसक जो जन्म से नपुंसक पैदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि का पूर्ण सिद्धि के लिये अपने आप को नपुंसक बना लिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधिकारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती है। इस तरह यहां तो केवल ६ प्रकार के ही सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विशेष भेद कर कुल १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है।

(६७) संसार से पार गये हुए, उत्तम सिद्ध गति को प्राप्त केवलज्ञान तथा केवल दर्शन के स्वामी ऐसे वे सब सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में स्थिर हैं।

(६८) तीर्थंकर भगवान ने संसारी जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) त्रस, और (२) स्थावर। स्थावर जीवों के भी तीन भेद हैं।

(६९) (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) वनस्पतिकाय। इन तीनों के भी उपभेद हैं उन्हें मैं कहता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(७०) पृथ्वीकाय जीवों के (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो भेद हैं। और इन दोनों के (१) पर्याप्त, तथा (२) अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

(७१) स्थूल पर्याप्त के दो भेद हैं (१) कोमल और (२) कर्कश इनमें से कोमल के ७ भेद हैं —

(७२) (१) काली, (२) नीली, (३) लाल, (४) पीली, (५) सफेद (६) पांडुर (सफेद चन्दन जैसी) और (७) अत्यन्त बारीक रेत — ये सात भेद कोमल पृथ्वी के हैं कर्कश पृथ्वी के [illegible] भेद हैं —

(७३) (१) पृथ्वी (खान की मिट्टी), (२) ककरीली, (३) रेता (४) (पत्थर का छोटा) कंकरी, (५) शिला, (६) समुद्र [illegible] (७) लोनी मिट्टी, (८) लोह (९) तांबा (१०) कलई, (११) सीसा, (१२) चांदी (१३) सोना, (१४) वज्रहीरा—

(७९) सूक्ष्म तथा स्थूल पृथ्वीकाय के जीव, जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक एक जीव की आयुष्य की अपेक्षा से सादि तथा सांत हैं।

(८०) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति २२००० वर्ष की है।

(८१) (पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने को काय स्थिति कहते हैं) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है।

(८२) पृथ्वीकाय के जीव एक बार अपनी पृथ्वीकाय को छोड़ कर फिर दुबारा पृथ्वीकाय में जन्मधारण करें उसके अन्तर की जघन्य अवधि एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अनन्त काल तक की है।

(८३) भाव की अपेक्षा अब वर्णन करते हैं—इन पृथ्वी कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण तथा संस्थान की दृष्टि से हजारों भेद हैं।

(९४) प्रत्येक वनस्पति जीवों के भी अनेक भेद हैं, (१) वृक्ष (इसके भी सबीज और निर्बीज ये दो भेद हैं), (२) गुच्छावाले, (३) वनमालती आदि, (४) लता (चंपक लता आदि), (५) वेलें (करेले, ककड़ी आदि की वेलें), (६) घास—

(९५) (७) नारियल, (८) ईख, वास आदि, (९) कुकुरमुत्ते (१०) कमल, साली आदि, (११) हरिकाय औषधि आदि आदि सब प्रत्येक वनस्पतियां हैं।

(९६) साधारण शरीर वाले जीव भी अनेक प्रकार के हैं, (१) आलू, (२) मूला, (३) अदरक—

(९७) (४) हरिली कंद, (५) विरिली कंद, (६) सिस्सिरिली कंद, (७) जावंत्री कन्द, (८) कंदली कंद, (९) प्याज, (१०) लहसन, (११) पलांडु कंद, (१२) कुडुव कन्द—

(९८) (१३) लोहिनी कन्द, (१४) हुताक्षी कन्द, (१५) हुत कन्द, (१६) कुहक कन्द (१७) कृष्ण कन्द, (१८) वज्र कन्द, (१९) सूरण कन्द—

(९९) (२०) अश्वकर्णी कन्द, (२१) सिंहकर्णी कन्द, (२२) मुसण्ढी कंद, (२३) हरी हल्दी—इस प्रकार अनेक तरह की साधारण वनस्पतियां होती हैं।

(१००) सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का एक ही भेद है। भिन्न २ प्रकार का न होने से सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल जीव तो लोक के अमुक भाग में ही हैं।

(१०१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु एक एक जीव की आयुस्थिति की अपेक्षा से ये आदि एवं सान्त हैं।

(१०२) वनस्पति काय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयुस्थिति दस हजार वर्षों की है।

(१०३) वनस्पति कायिक जीवों की कायस्थिति, यदि वे उसी योनि में जन्म धारण करते रहें तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक अनंत काल तक की है।

टिप्पणी—आलू, मूला, निगोद इत्यादि अनन्त काय के जीव की अपेक्षा से अनन्त काल कहा है।

(१०४) वनस्पति कायिक जीव के, अपनी काय को छोड़कर दुबारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल तक की है।

(१०५) वनस्पति कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१०६) इस तरह संक्षेप में [illegible] के जीव कहे हैं। अब तीन प्रकार के [illegible] कहते हैं।

(१०७ अग्निकाय [illegible]

[illegible] इनमें से [illegible]

टिप्पणी—यहां [illegible]

से ग्रहण कर [illegible]

(१०८) अग्निकाय के जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं। और उन दोनों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

टिप्पणी—पर्याप्त जीव उन्हें कहते हैं कि जिन्हें, जिस योनि में जितनी पर्यायें मिलनी चाहिये उतनी सब मिली हों और जो जीव उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त किये बिना ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्त जीव कहते हैं। पर्यायें ६ प्रकार की हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

(१०९) स्थूल पर्याप्त अग्निकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं- जैसे—(१) अङ्गारा, (२) राखमिश्र अग्नि, (३) तप्त धातु की अग्नि, (४) अग्नि ज्वाला (५) भड़का (विछिन्न शिखा)—

(११०) (६) उल्कापात की अग्नि, (७) बिजली की अग्नि—आदि अनेक भेद हैं। सूक्ष्म पर्याप्त अग्निकाय के जीव केवल एक ही प्रकार के हैं।

(१११) सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सब लोक में व्याप्त हो रहे हैं किंतु स्थूल तो लोक के केवल अमुक भाग में ही व्याप्त हैं। अब उनका चार प्रकार का कालविभाग बताता हूं।

(११२) प्रवाह की अपेक्षा से तो सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयु की स्थितियों की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(११३) अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट असंख्य काल तक की है।

(१०४) अग्निकाय के जीवों की कायस्थिति (इस काय को न छोड़े तब तक की आयु) कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।

(१०५) अग्निकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दूसरी काय में उत्पन्न होने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल तक की है।

(१०६) अग्निकायिक जीवों के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१०७) वायुकायिक जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल—ऐसे दो प्रकार के होते हैं। और इन दोनों के (१) पर्याप्त, (२) अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

(१०८) स्थूल पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेद हैं—(१) उत्कलिक (रह रह कर बहने वाली) वायु, (२) आंधी, (३) घनवायु (जो घनोदधि के नीचे रहती है), (४) गुंजावायु (जब गूंजने वाली है) और (५) शुद्ध वायु

(१०९) तथा संवर्तक वायु [illegible] है और सूक्ष्म [illegible]

(११०) सूक्ष्म वायुकायिक [illegible] है किन्तु स्थूल [illegible] अब इनका काल [illegible] कहते हैं

२८

(१२१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सभी जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयुओं की स्थिति के कारण ये सादि एवं सांत हैं।

(१२२) वायुकाय के जीवों की जघन्य आयु स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्षों तक की है।

(१२३) वायुकायिक जीवों की कायस्थिति (इस काया को न छोड़ें तब तक) की कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।

(१२४) वायुकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्मधारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है।

(१२५) वायुकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१२६) बड़े त्रसकाय के (द्वीन्द्रियादिक) जीव चार प्रकार के होते हैं (१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, और (४) पंचेन्द्रिय।

(१२७) द्वीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त तथा (२) अपर्याप्त—ये दो प्रकार के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूं, उन्हें सुनो।

(१२८) (१) कृमिया (विष्ठा में उत्पन्न होने आदि), (२) [illegible]मिया, (३) [illegible] (४) मातृवाहक, (५) वासीमुखा, (६) [illegible], (७) [illegible] शम्बूकादिया।

(१२९, (८) [illegible], (९) [illegible], (१०) [illegible], (११) [illegible] और (१२) [illegible]

(१३९) ये सब समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१४०) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि और अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि-अन्त सहित हैं।

(१४१) त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है।

(१४२) त्रीन्द्रिय की कायस्थिति, उसी काय को न छोड़े तब तक की, कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१४३) त्रीन्द्रिय जीव अपने एक शरीर को छोड़कर फिर दुबारा उसी योनि में शरीर धारण करे तो उसके बीच के अन्तर काल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१४४) त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१४५) चतुरिन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त—ये दो प्रकार के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।

(१४६) (१) अंधिया, (२) पोतिया, (३) मक्खी, (४) मच्छर, (५) भौंरा, (६) कीड़ा, (७) पतंगिया, (८) ढिंकणा, (९) कंकणा—

(१४७) (१०) कुकुट (११) सिंगरीटी, (१२) नंद्यावर्त, (१३) बिच्छू, (१४) डोला (१५) भिंगुर, (१६) भारती, (१७) अंसफोड़ा,

(१४८) (१८) अच्छील, (१९) नागय, (२०) रोड, (२१) रंगविरंगी तितलियां, (२२) जलकारी, (२३) उपधि जलका, (२४) नीचका, और (२५) तात्रका।

टिप्पणी—भिन्न २ भाषाओं में इनके जुदे २ नाम हैं।

(१४९) इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद कहे हैं। ये सब लोक के किसी अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१५०) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि एवं अनंत हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१५१) चतुरिन्द्रिय जीव की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट आयु ६ महीने की है।

(१५२) चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति (उस काय को न छोड़े तब तक की स्थिति) कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१५३) चतुरिन्द्रिय जीव अपना शरीर छोड़कर फिर उसी काय में जन्में तो उसके बीच के अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१५४) ये चतुरिन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों तरह के होते हैं।

(१५५) पंचेन्द्रिय जीव ४ प्रकार के होते हैं:—(१) नारकी, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव।

(१५६) रत्नप्रभादि सात नरकभूमिओं होने से सात प्रकार के नरक कहे हैं उन भूमिओं के नाम ये हैं —(१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) वालुप्रभा।

(१५७) (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा (७) तमस्तमस् प्रभा (महातमप्रभा)। इस प्रकार इन भूमियों में रहनेवाले नारकी सात प्रकार के हैं।

(१५८) वे सब लोक के एक विभाग में स्थित हैं। अब मैं उनका ४ प्रकार का कालविभाग कहता हूँ:—

(१५९) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि एवं अन्त सहित हैं।

(१६०) पहिले नरक में आयु की जघन्य स्थिति १० हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर की है।

(१६१) दूसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति एक सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर की है।

(१६२) तीसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति तीन सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सात सागर की है।

(१६३) चौथे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सात सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति दस सागर की है।

(१६४) पाँचवे नरक में आयु की जघन्य स्थिति दस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागर की है।

(१६५) छट्ठे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सत्रह सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागर की है।

(१६६) सातवे नरक में आयु की जघन्य स्थिति बाईस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर की है।

(१६७) नरक के जीवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयु होती है उतनी ही कायस्थिति होती है।

टिप्पणी—एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक करोड़ पूर्व की स्थिति को एक पूर्व की कोटी कहते हैं।

(१७६) उन जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक पृथक् पूर्व कोटी की है।

टिप्पणी—पृथक् अर्थात् २ से लेकर ९ तक की संख्या।

(१७७) जलचर पंचेन्द्रिय जीव अपनी काया छोड़कर उसी काया को फिर धारण करें उसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१७८) स्थलचर पंचेन्द्रिय जीव (१) जो पगवाले हों वे चौपद तथा (२) परिसर्प—ये दो प्रकार के हैं। चौपद के ४ उपभेद हैं उन्हें तुम सुनोः—

(१७९) (१) एक खुरा (घोड़ा, गधा आदि), (२) दो खुरा (गाय, बैल आदि), (३) गंडीपदा (कोमल पद-वाले जैसे हाथी, ऊँट आदि) तथा (४) सनखपदा (सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि)।

(१८०) परिसर्प के दो प्रकार हैं, (१) उरपरिसर्प और (२) भुजपरिसर्प। उरपरिसर्प उन्हें कहते हैं जो छाती से रेंग कर चलते हैं (जैसे, साप आदि) तथा भुजपरि-सर्प वे हैं जो हाथों से रेंग कर चलते हैं जैसे छिपकली, सौंदा आदि)। इनमें से प्रत्येक के अनेकों अवान्तर भेद-प्रभेद हैं।

(१८१) ये सब स्थलचर पंचेद्रिय जीव सर्वत्र लोक में व्याप्त नहीं है किन्तु उसके अमुक भाग में ही स्थित हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहता हूँ—

(१८२) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं।

(१८३) स्थलचरजीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रम से अन्तर्मुहूर्त एवं तीन पल्यों की है।

टिप्पणी—पल्य यह काल का अमुक प्रमाण है।

(१८४) स्थलचर जीवों की कायस्थिति (निरन्तर एक ही शरीर धारण करते रहने को) जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्यसहित दो से लेकर ९ पूर्व कोटि तक की है।

(१८५) वे स्थलचर जीव अपना एक शरीर छोड़ कर दूसरी बार वही शरीर धारण करें उसके बीच के अन्तराल की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति अनंतकाल तक की है।

(१८६) खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चमड़े के पंख-वाले (चिमगादड़ आदि), (२) रोम पक्षी (चकवा, हंस आदि), (३) समुद्गपक्षी (जिन पक्षियों के पंख ढंके हुए सन्दूक जैसे हों। ऐसे पक्षी मनुष्यक्षेत्र के बाहर रहते हैं); और (४) वितत पक्षी (सूप सरीखे पंखवाले)।

(१८७) ये समस्त लोक में नहीं किन्तु लोक के अमुक भाग में ही रहते हैं। अब मैं उनका काल विभाग चार प्रकार से कहता हूं।

(१८८) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१८९) खेचर जीवों की आयुस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की तथा अधिक से अधिक एक पल्य के असंख्यातवें भाग जितनी है।

(१९०) खेचर जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट कायस्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग सहित दो से नौ पूर्व कोटी तक की है।

(१९१) खेचर जीव अपनी काया छोड़ कर उसी काया को फिर धारण करें उसके बीच का अन्तराल कम से कम अन्तर्मुहूर्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का है।

(१९२) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१९३) मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, (१) सम्मूर्छिम मनुष्य और (२) गर्भज मनुष्य। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ सो तुम सुनो।

(१९४) गर्भज (मातापिता के संयोग से उत्पन्न) मनुष्य तीन प्रकार के कहे हैं—(१) कर्मभूमि के, (२) अकर्मभूमि के, और (३) अन्तरद्वीपों के।

टिप्पणी—कर्मभूमि अर्थात् जहां असि, मसि (वाणिज्यकर्म) कृषि आदि कर्म करके जीविका पैदा की जाय। अन्तरद्वीप अर्थात् चूल-हिमवंत और शिखरी इन दो पर्वतों पर ४-४ दाढ़े हैं और प्रत्येक दाढ़ा में सात २ अन्तरद्वीप हैं। यहाँ पर भोगभूमि की तरह युगलिया मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

लिखा है। मनुष्ययोनि संकलना रूप से सात या आठ भवों तक अधिक से अधिक चालू रह सकती है और उस परिस्थिति में उतनी आयुस्थिति भी हो सकती है।

(२००) गर्भज मनुष्य अपनी काया छोड़ कर फिर उसी योनि में जन्मधारण करे तो इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा अधिक से अधिक अनन्त काल तक का है।

(२०१) गर्भज मनुष्यों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों ही भेद हैं।

(२०२) सर्वज्ञ भगवान ने देवों के ४ प्रकार बताये हैं। अब मैं उनका वर्णन करता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

(२०३) भवनवासी देव १० प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं।

(२०४) (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युतकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) दिक्कुमार, (८) उदधिकुमार, (९) वायुकुमार, और (१०) स्तनितकुमार—ये १० भेद भवनवासी देवों के होते हैं।

(२०५) (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच—ये आठ भेद व्यन्तर देवों के हैं।

(२०६) (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र, (५) प्रकीर्णक (तारे) ये ५ भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। अढाई द्वीप के ज्योतिष्क देव हमेशा गति करते रहते हैं। अढाई द्वीप बाहर के जो ज्योतिष्क देव हैं वे स्थिर हैं।

(२०७) वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं (१) कल्पवासी, और (२) अकल्पवासी (कल्पातीत)।

(२०८) कल्पवासी देवों के १२ प्रकार हैं :—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) महेन्द्र, (५) ब्रह्म-लोक, (६) लांतक।

(२०९) (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत। इन सब स्वर्गों में रहनेवाले देव १२ प्रकार के कल्पवासी देव कहाते हैं।

(२१०) (१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर ये दो भेद कल्पातीत देवों में है। ग्रैवेयक ९ हैं :—

(२११) ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (तीन तीन की श्रेणी) हैं, (१) ऊपर की, (२) मध्यम की और, (३) नीचेकी. प्रत्येक त्रिक के (१) ऊपर (२) मध्य और (३) नीचला—ये तीन तीन भेद हैं। (इस तरह ये सब मिलाकर ९ हुए) निचली त्रिक के नीचे स्थान के देव, (२) निचली त्रिक के मध्यम स्थान और (३) निचली त्रिक के ऊपरी स्थान के

(२१२) (४) मध्यम त्रिक के नीचे स्थान के देव, (५) मध्यम त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (६) मध्यम त्रिक के ऊपरी स्थान के देव।

(२१३) (७) ऊपर त्रिक के नीचे स्थान के देव, (८) ऊपर की त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (९) ऊपर की त्रिक के ऊपर स्थान के देव—ग्रैवेयक के देवों के ये ९ भेद कहे हैं। और (१) विजय, (२) वैजयंत, (३) जयंत और (४) अपराजित।

(२१४) और (५) सर्वार्थसिद्धि—ये पांच अनुत्तर विमान हैं। इनमें रहनेवाले वैमानिक देव इस प्रकार से ५ प्रकार के हैं।

(२१५) ये सब देवलोक के अमुक भाग में ही अवस्थित हैं सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहूँगा।

(२१६) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सब देव अनादि अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से सादि-सांत हैं।

(२१७) भवनवासी देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर से कुछ अधिक कही है।

(२१८) व्यंतर देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की तथा अधिक से अधिक एक पल्य की है।

(२१९) ज्योतिष्क देवोंकी आयुस्थिति जघन्य एक पल्य के आठवें भाग की तथा उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष सहित एक पल्य की है।

(२२०) सौधर्म स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक पल्य की तथा दो सागर की है।

(२२१) ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १ पल्य तथा २ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२२) सनत्कुमार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २ सागर तथा ७ सागर की है।

(२२३) महेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २ सागर से कुछ अधिक तथा ७ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२४) ब्रह्मलोक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ७ सागर की तथा १० सागर की है।

(२२५) लांतक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १० सागर की तथा १४ सागर की है।

(२२६) महाशुक्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १४ सागर की तथा १७ सागर की है।

(२२७) सहस्रार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १७ सागर की तथा १८ सागर की है।

(२२८) आनत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १८ सागर की तथा १९ सागर की है।

(२२९) प्राणत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १९ सागर की तथा [illegible] सागर की है

(२३०) आरण स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २० सागर की तथा [illegible] सागर की [illegible]

(२३१) अच्युत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २१ सागर को तथा २२ सागर की है।

(२३२) प्रथम ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २२ सागर की तथा २३ सागर की है।

(२३३) द्वितीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों का जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २३ सागर की तथा २४ सागर की है।

(२३४) तृतीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २४ सागर की तथा २५ सागर की है।

(२३५) चौथे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २५ सागर की तथा २६ सागर की है।

(२३६) पांचवे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २६ सागर की तथा २७ सागर की है।

(२३७) छट्ठे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २७ सागर की तथा २८ सागर की है।

(२३८) सातवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २८ सागर की तथा २९ सागर की है।

(२३९) आठवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २९ सागर की तथा ३० सागर की है।

(२४०) नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ३० सागर की तथा ३१ सागर की है।

(२४१) (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयंत (४) अपराजित—इन चारों विमानों के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमशः ३१ सागर तथा ३३ सागर की है।

(२४२) पांचवें सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में सब देवों की आयुस्थिति पूरे ३३ सागर की है। इससे अधिक या कम नहीं है।

(२४३) देवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति सर्वज्ञ भगवान ने कही है।

टिप्पणी—देवगति की आयुष्य पूर्ण होते ही दूसरा भव देवगति में नहीं होता। देव होने के बाद अन्य गति में जाना पड़ता है।

(२४४) देव अपनी काया छोड़कर उस काया को फिर पावें इस अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।

(२४५) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(२४६) इस तरह रूपी तथा अरूपी—इन दो प्रकार के अजीवों, तथा संसारी एवं सिद्ध इन दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया।

(२४७) मुनि को उचित है कि यह जीव एवं अजीव संबंधी विभाग को ज्ञानी पुरुष के द्वारा बराबर समझे—समझ-कर उस पर दृढ़ प्रतीति लावे और सर्व प्रकार के नय निक्षेप (विचारों के वर्गीकरण) द्वारा बराबर घटाकर ज्ञानदर्शन की प्राप्ति करे और आदर्श चारित्र में [illegible]।

(२४८) इसके बाद बहुत वर्षों तक शुद्ध चारित्र को [illegible] निम्नलिखित क्रम से अपनी आत्मा का दमन करे

(२४९) (जिस तपश्चर्या द्वारा पूर्वकर्मों तथा कषाय [illegible] होता है ऐसी दीर्घ तपश्चर्या को [illegible]

टिप्पणी—जिन अर्थात् रागद्वेष से सर्वथा रहित परमात्मा।

(२५९) जो जीव जिन वचनों को यथार्थ रीति से जान नहीं सकते हैं वे बिचारे अज्ञानीजीव बहुत बार बालमरण तथा अकाममरण को प्राप्त होते हैं।

(२६०) (अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी सत्पुरुषों के पास करनी चाहिये उनके गुण बताते हैं) जो बहुत से शास्त्रों के रहस्यों का जानकार हो; जिनके वचन समाधि (शान्ति) उत्पन्न करनेवाले हों, और जो केवल गुण का ही ग्रहण करते हों—ऐसे ज्ञानीपुरुष ही दूसरों के दोषों की आलोचना करने के योग्य हैं।

(२६१) (१) कंदर्प (कामकथा का संलाप), (२) कौत्कुच्य (मुख द्वारा विकार भाव प्रकट करने की चेष्टा), (३) मौखर्य (हँसीमजाक अथवा किसी का निंदाव्यंजक अनुकरण) तथा कुकथा एवं कुचेष्टाओं से दूसरों को विस्मित करनेवाला जीव कांदर्पी भावना का दोषी है।

(२६२) रस, सुख, अथवा समृद्धि के लिये जो साधक वशीकरण आदि के मन्त्र अथवा मंत्र-जंत्र (गंडे तावीज़ आदि) करता है वह आभियोगी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—कांदर्पी तथा आभियोगी आदि दुष्ट भावना करनेवाला यदि कदाचित देवगति प्राप्त करे तो वह हीन कोटि का देव होता है।

(२६३) केवलीपुरुष ज्ञान, धर्माचार्य, तथा साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका की जो कोई निन्दा करता है तथा कपटी होता है वह किल्बिषीकी भावना का दोषी है।

(२६४) निरन्तर जो गुस्से में भरा रहता है, मौका आने पर जो शत्रु का सा आचरण करता है—ऐसे २ अन्य दुष्ट कार्यों में प्रवर्तनेवाला जीव आसुरी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—निमित्त शब्द का अर्थ निमित्तशास्त्र भी होता है और वह एक ज्योतिष का अंग है। उसके झूठ मूंठ देखकर जो कोई उसका धंधा चलाता है वह भी आसुरी वृत्ति का दोषी है।

(२६५) (१) शस्त्रग्रहण (शस्त्र आदि से आत्मघात करना), (२) विष (द्वारा आत्मघात करना), (३) ज्वलन (अग्नि में जल मरना), (४) जलप्रवेश (पानी में डूब मरना) अथवा (५) अनाचारी उपकरण (कुत्सित कार्यों) का सेवन करने से जीवात्मा अनेक भवपरंपराओं का बंध करता है।

टिप्पणी—अज्ञानमरण से जीवात्मा मुक्त होने के बदले दुगुना बंध करता है।

(२६६) इस प्रकार भवसंसार में सिद्धि को देनेवाले ऐसे उत्तम इन छत्तीस अध्ययनों को सुन्दर रीति से प्रकट कर केवलज्ञानी भगवान ज्ञातपुत्र आत्मशान्ति में लीन हो गये।

टिप्पणी—जीव और अजीव इन दोनों के विभागों को जानना जरूरी है उसके जानने के बाद ही बालक एवम् निर्ग्रन्थ गति के सुख और मनुष्य एवं देवगति के सुख भोगकर इस विचित्र संसार में जीवने के तत्त्व को समझाने की उत्कट अभिलाषा प्रकट होती है और उत्कट अभिलाषा के बाद आत्मा का उत्थान एवं उत्तरोत्तर की पहुँच

जाता है जहाँ वह दुःख में भी सुख, वेदना में भी शांति का अनुभव करने लगता है। परम प्रगाढ़ सन्तोष की भावनाएँ उसके हृदय समुद्र में हिलोरे मारने लगती हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'जीवाजीवविभक्ति' संबंधी छत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!

इसी लेखक की अन्य प्रकाशित पुस्तक

[संस्कृत भाषा के सामान्य अभ्यासी के लिये भी विशेष उपयोगी]

जैन-सिद्धांत पाठमाला

[संस्कृत छाया सहित]

उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक सूत्र संस्कृत छाया तथा गुजराती टिप्पणियों के साथ। इनके सिवाय भक्तामरादि आठ स्तोत्र।

डाक खर्च ६ आना : पृष्ठ संख्या ४६८ : मूल्य मात्र २) रुपया

विद्वानों द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसित

[गुजराती भाषा में]

सुखनो साक्षात्कार

जिसमें आंतरिक एवं बाह्य दोनों सुखों की बहुत ही बारीकाई से सरल एवं सुन्दर व्याख्याएँ देकर सच्चे सुख के साधन बताए गये हैं।

डाक खर्च एक आना · पृष्ठ संख्या ८८ · मूल्य डेढ़ आना

सच्चे सुख के शोधकों को इस पुस्तक को मंगाकर एक बार तो इसे जरूर सांगोपांग पढ़ जाना चाहिये।

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले
अमूल्य ग्रन्थ

(१) आचारांग सूत्र—

इस ग्रन्थराज की प्रशंसा करना मानों सूर्य को दिया दिखाना है। भगवान महावीर के वचनों का अपूर्व संग्रह और आचार विषयक अनुपम ग्रन्थ है। भगवान महावीर के हृदय को और जैन धर्म के अन्तरंग रहस्य को जानने का यह एक मात्र उपाय है। सरल एवं सुबोध गुजराती में टीका टिप्पणी सहित। मनोहर छपाई और सफाई के साथ मूल्य भी केवल लागत मात्रही रक्खा जायगा। अभी से अपनी कापी का आर्डर भिजवा दीजिये।

(२) लेख संग्रह—

भिन्न भिन्न धार्मिक विषयों पर विद्वान लेखक के गवेषणा-पूर्ण लेखों का संग्रह। इस पुस्तक में कई एक विवादग्रस्त प्रश्नों पर प्रमाणपुरस्सर प्रकाश डाला गया है जिन्हें पढ़ कर सच्चा निर्णय करने में आपको बड़ी सहायता मिलेगी।

(३) क्रांति का सर्जनहार—

क्रांतिकार की समालोचना। इसमें ऋषि लोंकाशाह के प्रमाणिक जीवन और उनकी भावना पर प्रकाश डाला गया है प्रत्येक जैन के घर में इस कर्मयोगी के चरित्र की १—१ प्रति अवश्य होनी चाहिये।

---

(४३) जो पुद्गल वृत्ताकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४४) जो पुद्गल त्रिकोणाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४५) जो पुद्गल चतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४६) जो पुद्गल समचतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संक्षेप में कहा। अब जीवतत्त्व के विभाग को क्रमपूर्वक कहता हूँ।

(४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं:– (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के अनेक भेद हैं। सो मैं तुम्हें कहता हूँ— तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

(४९) उन सिद्ध जीवों में स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश में, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी आदि) वेश में अथवा गृहस्थ वेश में भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।

टिप्पणी —स्त्री, पुरुष और वे नपुंसक जो जन्म से नपुंसक पैदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि का पूर्ण सिद्धि के लिये अपने आप को नपुंसक बना लिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधिकारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती है। इस तरह यहां तो केवल ६ प्रकार के ही सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विशेष भेद कर कुल १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है।

(६७) संसार से पार गये हुए, उत्तम सिद्ध गति को प्राप्त केवलज्ञान तथा केवल दर्शन के स्वामी ऐसे वे सब सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में स्थिर हैं।

(६८) तीर्थंकर भगवान ने संसारी जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) त्रस, और (२) स्थावर। स्थावर जीवों के भी तीन भेद हैं।

(६९) (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) वनस्पतिकाय। इन तीनों के भी उपभेद हैं उन्हें मैं कहता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(७०) पृथ्वीकाय जीवों के (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो भेद है। और इन दोनों के (१) पर्याप्त, तथा (२) अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

(७१) स्थूल पर्याप्त के दो भेद हैं (१) कोमल और (२) कर्कश इनमें से कोमल के ७ भेद हैं —

(७२) (१) काली, (२) नीली, (३) लाल, (४) पीली, (५) सफेद (६) पांडुर (सफेद चन्दन जैसी) और (७) अत्यन्त बारीक रेत—ये सात भेद कोमल पृथ्वी के हैं कर्कश पृथ्वी के ३६ भेद हैं —

(७३) (१) पृथ्वी (खान की मिट्टी), (२) कंकरीली, (३) रेता (४) [illegible] करी, (५) शिला, (६) समुद्रादि का नमक (७) लोनी मिट्टी, (८) लोह (९) तांबा (१०) कलई, (११) सीसा, (१२) चांदी (१३) सोना, (१४) वज्रहीरा—

(७४) (१५) हड़ताल, (१६) हींगड़ा, (१७) मणसील (एक प्रकार की धातु,) (१८) जसत, (१९) सुरमा, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रक (२२) अभ्रक से मिश्रित धूल।

(७५) (अब मणियों के भेद कहते हैं:—) (२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंकरत्न (२६) स्फटिक रत्न, (२७) लोहिताक्ष मणि, (२८) मर्कत मणि, (२९) मसारगल मणि, (३०) भुजमोचक रत्न, (३१) इन्द्र नील—

(७६) (३२) चन्दन रत्न, (३३) गैरुकरत्न, (३४) हंसगर्भ रत्न, (३५) पुलकरत्न, (३६) सौगन्धिक रत्न, (३७) चंद्रप्रभारत्न, (३८) वैडूर्य रत्न, (३९) जलकांत मणि और (४०) सूर्यकांत मणि।

टिप्पणी—यद्यपि यहां मणियों के १८ भेद गिनाये हैं परन्तु इनको १७ प्रकार मानकर पूर्व के २२ में जोड़ देने से कुल भेद ३९ हुए।

(७७) इस प्रकार [illegible] पृथ्वी के [illegible] [illegible] नहीं हैं [illegible] नहीं होते।

(७८) [illegible] हैं। और [illegible] [illegible]

(७९) सूक्ष्म तथा स्थूल पृथ्वीकाय के जीव, जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक एक जीव की आयुष्य की अपेक्षा से सादि तथा सांत हैं।

(८०) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति २२००० वर्ष की है।

(८१) (पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने को काय स्थिति कहते हैं) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है।

(८२) पृथ्वीकाय के जीव एक बार अपनी पृथ्वीकाय को छोड़ कर फिर दुबारा पृथ्वीकाय में जन्मधारण करें उसके अन्तराल की जघन्य अवधि एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अनन्त काल तक की है।

(८३) भाव की अपेक्षा अब वर्णन करते हैं—इन पृथ्वी कायिक जीवों के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा संस्थान की दृष्टि से हजारों भेद हैं।

(८४) [illegible]

(९४) प्रत्येक वनस्पति जीवों के भी अनेक भेद हैं, (१) वृक्ष (इसके भी सबीज और निर्बीज ये दो भेद हैं), (२) गुच्छावाले, (३) वनमालती आदि, (४) लता (चंपक लता आदि), (५) बेलें (करेले, ककड़ी आदि की बेलें), (६) घास—

(९५) (७) नारियल, (८) ईख, बांस आदि, (९) कठूले (१०) कमल, साली आदि, (११) हरिकाय औषधि आदि आदि सब प्रत्येक वनस्पतियां हैं।

(९६) साधारण शरीर वाले जीव भी अनेक प्रकार के हैं, (१) आलू, (२) मूला, (३) अदरक—

(९७) (४) हरिली कंद, (५) सिरिली कंद, (६) सिस्सिरिली कंद, (७) जावंत्री कन्द, (८) कंदली कंद, (९) प्याज, (१०) लहसन, (११) पलांडु कंद, (१२) कुडुव कन्द—

(९८) (१३) लोहिनी कन्द, (१४) हुताक्षी कन्द, (१५) हत कन्द, (१६) कुहक कन्द (१७) कृष्ण कन्द, (१८) वज्र कन्द, (१९) सूरण कन्द—

(९९) (२०) अश्वकर्णी कन्द (२१) सिंहकर्णी कन्द, (२२) मुसंढी कंद, (२३) हरा कन्द—इस प्रकार अनेक तरह की साधारण वनस्पतियां होती हैं।

(१००) सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का एक ही भेद है। भिन्न २ प्रकार का नहीं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल जीव तो लोक के अमुक भाग में ही हैं।

(१०१) प्रवाह की अपेक्षा से वे सब अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु एक एक जीव की आयुस्थिति की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१०२) वनस्पति काय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयुस्थिति दस हजार वर्षों की है।

(१०३) वनस्पति कायिक जीवों की कायस्थिति, उसी २ योनि में जन्म धारण करता रहे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक अनंत काल तक की है।

टिप्पणी—कंद मूल, निगोद इत्यादि अनन्त काय के जीव की अपेक्षा से अनन्त काल कहा है।

(१०४) वनस्पति कायिक जीव के, अपनी काय को छोड़कर दुबारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल तक की है।

(१०५) वनस्पति कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१०६) इस तरह संक्षेप से तीन प्रकार के जीव कहे हैं। अब तीन प्रकार के [illegible]

(१०७) अग्निकाय [illegible]

टिप्पणी— [illegible]

(१०८) अग्निकाय के जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं। और उन दोनों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

टिप्पणी—पर्याप्त जीव उन्हें कहते हैं कि जिन्हें, जिस योनि में जितनी पर्यायें मिलनी चाहिये उतनी सब मिली हों और जो जीव उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त किये बिना ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्त जीव कहते हैं। पर्यायें ६ प्रकार की हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

(१०९) स्थूल पर्याप्त अग्निकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—(१) अङ्गारा, (२) राखमिश्र अग्नि, (३) तप्त धातु की अग्नि, (४) अग्नि ज्वाला (५) भड़का (*विछिन्न शिखा*)—

(११०) (६) उल्कापात की अग्नि, (७) बिजली की अग्नि—आदि अनेक भेद हैं। सूक्ष्म पर्याप्त अग्निकाय के जीव केवल एक ही प्रकार के हैं।

(१११) सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सब लोक में व्याप्त हो रहे हैं किंतु स्थूल तो लोक के केवल अमुक भाग में ही व्याप्त हैं। अब उनका चार प्रकार का कालविभाग बताता हूँ।

(११२) प्रवाह की अपेक्षा से तो सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयु की स्थितियों की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(११३) अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट असंख्य काल तक की है।

(१२१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सभी जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयुओं की स्थिति के कारण ये सादि एवं सांत हैं।

(१२२) वायुकाय के जीवों की जघन्य आयु स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्षों तक की है।

(१२३) वायुकायिक जीवों की कायस्थिति (इस काया को न छोड़े तब तक) की कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।

(१२४) वायुकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्मधारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है।

(१२५) वायुकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१२६) बड़े त्रसकाय के (द्वीन्द्रियादिक) जीव चार प्रकार के होते हैं (१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, और (४) पंचेन्द्रिय।

(१२७) द्वीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त तथा (२) अपर्याप्त—ये दो तरह के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।

(१२८) (१) कृमिया (विष्ठा में उत्पन्न कृमि आदि), (२) अलसिया, (३) मींगल (४) मातृवाहक, (५) वासीमुख, (६) सीप, (७) छोटे-शंख-शंखनारिया।

(१२९) (८) पुलय, (९) अनुल्लक, (१०) मानक, (११) जोंक और (१२) चन्दनिया

(१३०) इस तरह द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद होते हैं और वे सब लोक के अमुक अमुक भागों में रहते हैं।

(१३१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु आयुष्यस्थिति की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१३२) द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयु १२ वर्षों तक की कही है।

(१३३) द्वीन्द्रिय जीवों की काय स्थिति (उसी काय को न छोड़ें तब तक की) कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक की है।

(१३४) द्वीन्द्रिय जीव अपनी काय को छोड़ कर फिर द्वीन्द्रिय शरीर धारण करे उनके बीच का जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।

(१३५) द्वीन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों प्रकार के होते हैं।

(१३६) त्रीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त—ये दो तरह के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद बताता हूं, उन्हें सुनो।

(१३७) (१) कुंथवा, (२) कीड़ी, (३) खांचड़, (४) उक्कलीया, (५) तृणाहारी, (६) काष्ठहारी, (७) मालुका और (८) पत्रहारी

(१३८) (९) कपास के बीज में उत्पन्न होने [illegible] तिन्दुक, (१०) मिंजक, [illegible] गुल्मी [illegible] इन्द्रगा और [illegible] अनेक प्रकार के हैं।

(१३९) ये सब समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१४०) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि और अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि-अन्त सहित हैं।

(१४१) त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है।

(१४२) त्रीन्द्रिय की कायस्थिति, उसी काय को न छोड़े तब तक की, कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१४३) त्रीन्द्रिय जीव अपने एक शरीर को छोड़कर फिर दुबारा उसी योनि में शरीर धारण करे तो उसके बीच के अन्तर का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१४४) त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१४५) चतुरिन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त— ये दो प्रकार के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।

(१४६) (१) अंधिया, (२) पोतिया, (३) मक्खी, (४) मच्छर, (५) भौंरा, (६) कीड़ा, (७) पतंगिया, (८) ढिंकुण, (९) कुकुण—

(१४७) (१०) कुक्कुड (११) सिंगरीटी, (१२) नंदावर्त, (१३) बिच्छू, (१४) डोला, (१५) भिंगुर, (१६) बारली, (१७) अक्षिवेधक,

(१४८) (१८) अच्छील, (१९) मागध, (२०) रोड, (२१) रंगविरंगी वितलियां, (२२) जलकारी, (२३) उपधि जलका, (२४) नीचका, और (२५) ताम्रका।

टिप्पणी—भिन्न २ भाषाओं में इनके जुदे २ नाम हैं।

(१४९) इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद कहे हैं। ये सब लोक के किसी अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१५०) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि एवं अनंत हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१५१) चतुरिन्द्रिय जीव की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट आयु ६ महीने की है।

(१५२) चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति (उस काय को न छोड़े तब तक की स्थिति) कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१५३) चतुरिन्द्रिय जीव अपना शरीर छोड़कर फिर उसी काय में जन्में तो उसके बीच के अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१५४) ये चतुरिन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों तरह के होते हैं।

(१५५) पंचेन्द्रिय जीव ४ प्रकार के होते हैं:—(१) नारकी, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव।

(१५६) रत्नप्रभादि सात नरकभूमियां होने से सात प्रकार के नरक कहे हैं उन भूमियों के नाम ये हैं —(१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) बालुप्रभा।

(१५७) (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा (७) तमः तमस् प्रभा (महातमप्रभा)। इस प्रकार इन भूमियों में रहनेवाले नारकी सात प्रकार के हैं।

(१५८) वे सब लोक के एक विभाग में स्थित हैं। अब मैं उनका ४ प्रकार का कालविभाग कहता हूँ:—

(१५९) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि एवं अन्त सहित हैं।

(१६०) पहिले नरक में आयु की जघन्य स्थिति १० हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर की है।

(१६१) दूसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति एक सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर की है।

(१६२) तीसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति तीन सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सात सागर की है।

(१६३) चौथे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सात सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति दस सागर की है।

(१६४) पाँचवे नरक में आयु की जघन्य स्थिति दस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागर की है।

(१६५) छट्ठे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सत्रह सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागर की है।

(१६६) सातवें नरक में आयु की जघन्य स्थिति बाईस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है।

(१६७) नरक के जीवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयु होती है उतनी ही कायस्थिति होती है।

टिप्पणी—एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक करोड़ पूर्व की स्थिति को एक पूर्व की कोटी कहते हैं।

(१७६) इन जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक पृथक् पूर्व कोटी की है।

टिप्पणी—पृथक् अर्थात् २ से लेकर ९ तक की संख्या।

(१७७) जलचर पंचेन्द्रिय जीव अपनी काया छोड़कर उसी काया को फिर धारण करें उसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१७८) स्थलचर पंचेन्द्रिय जीव (१) जो पगवाले हों वे चौपद तथा (२) परिसर्प—ये दो प्रकार के हैं। चौपद के ४ उपभेद हैं उन्हें तुम सुनोः—

(१७९) (१) एक खुरा (घोड़ा, गधा आदि), (२) दो खुरा (गाय, बैल आदि), (३) गंडीपदा (कोमल पद-वाले जैसे हाथी, ऊँट आदि) तथा (४) सनखपदा (सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि)।

(१८०) परिसर्प के दो प्रकार हैं, (१) उरपरिसर्प और (२) भुजपरिसर्प। उरपरिसर्प उन्हें कहते हैं जो छाती से रेंग कर चलते हैं (जैसे, साप आदि) तथा भुजपरि-सर्प वे हैं जो हाथों से रेंग कर चलते हैं जैसे छिपकली, सांडा आदि)। इनमें से प्रत्येक के अनेकों अवान्तर भेद-प्रभेद हैं।

(१८१) ये सब स्थलचर पंचेंद्रिय जीव सर्वत्र लोक में व्याप्त नहीं है किन्तु उसके अमुक भाग में ही स्थित हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहता हूँ—

(१८२) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं।

(१८३) स्थलचरजीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रम से अन्तर्मुहूर्त एवं तीन पल्यों की है।

टिप्पणी—पल्य यह काल का अमुक प्रमाण है।

(१८४) स्थलचर जीवों की कायस्थिति (निरन्तर एक ही शरीर धारण करते रहने की) जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्यसहित दो से लेकर ९ पूर्व कोटि तक की है।

(१८५) वे स्थलचर जीव अपना एक शरीर छोड़ कर दूसरी बार वही शरीर धारण करें उसके बीच के अन्तराल की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति अनंतकाल तक की है।

(१८६) खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चमड़े के पंखवाले (चिमगादड़ आदि), (२) रोम पक्षी (चकवा, हंस आदि), (३) समुद्गपक्षी (जिन पक्षियों के पंख ढंके हुए सन्दूक जैसे हों। ऐसे पक्षी मनुष्यक्षेत्र के बाहर रहते हैं); और (४) वितत पक्षी (सूप सरीखे पंखवाले)।

(१८७) ये समस्त लोक में नहीं किन्तु लोक के अमुक भाग में ही रहते हैं। अब मैं उनका काल विभाग चार प्रकार से कहता हूं।

(१८८) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से ये सादि एवं सान्त हैं।

(१८९) खेचर जीवों की आयुस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की तथा अधिक से अधिक एक पल्य के असंख्यातवें भाग जितनी है।

(१९०) खेचर जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट कायस्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग सहित दो से नौ पूर्व कोटी तक की है।

(१९१) खेचर जीव अपनी काया छोड़ कर उसी काया को फिर धारण करें उसके बीच का अन्तराल कम से कम अन्तर्मुहूर्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का है।

(१९२) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१९३) मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, (१) सम्मूर्छिम मनुष्य और (२) गर्भज मनुष्य। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ सो तुम सुनो।

(१९४) गर्भज (मातापिता के संयोग से उत्पन्न) मनुष्य तीन प्रकार के कहे हैं—(१) कर्मभूमि के, (२) अकर्मभूमि के, और (३) अन्तरद्वीपों के।

टिप्पणी—कर्मभूमि अर्थात् जहां असि, मसि (वाणिज्यकर्म) कृषि आदि कर्म करके जीविका पैदा की जाय। अन्तरद्वीप अर्थात् चूल-हिमवंत और शिखरी इन दो पर्वतों पर ४-४ दाढ़े हैं और प्रत्येक दाढ़ा में सात २ अन्तरद्वीप हैं। वहाँ पर भोगभूमि की तरह युगलिया मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

लिखा है। मनुष्ययोनि संकलना रूप से सात या आठ भवों तक अधिक से अधिक पायु रह सकती है और उस परिस्थिति में उतनी आयुस्थिति भी हो सकती है।

(२००) गर्भज मनुष्य अपनी काया छोड़ कर फिर उसी योनि में जन्मधारण करे तो इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा अधिक से अधिक अनन्त काल तक का है।

(२०१) गर्भज मनुष्यों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों ही भेद हैं।

(२०२) सर्वज्ञ भगवान ने देवों के ४ प्रकार बताये हैं। अब मैं उनका वर्णन करता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

(२०३) भवनवासी देव १० प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं।

(२०४) (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युतकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) दिग्कुमार, (८) उदधिकुमार, (९) वायुकुमार, और (१०) स्तनितकुमार—ये १० भेद भवनवासी देवों के होते हैं।

(२०५) (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच—ये आठ भेद व्यन्तर देवों के हैं।

(२०६) (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र, (५) प्रकीर्णक (तारे) ये ५ भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। अढाई द्वीप के ज्योतिष्क देव हमेशा गति करते रहते हैं। अढाई द्वीप बाहर के जो ज्योतिष्क देव हैं वे स्थिर हैं।

(२०७) वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं (१) कल्पवासी, और (२) अकल्पवासी (कल्पातीत)।

(२०८) कल्पवासी देवों के १२ प्रकार हैं:—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) महेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लांतक।

(२०९) (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत। इन सब स्वर्गों में रहनेवाले देव १२ प्रकार के कल्पवासी देव कहाते हैं।

(२१०) (१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर ये दो भेद कल्पातीत देवों में है। ग्रैवेयक ९ हैं:—

(२११) ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (तीन तीन की सेरी) हैं, (१) ऊपर की, (२) मध्यम की और, (३) नीचेकी, प्रत्येक त्रिक के (१) ऊपर (२) मध्य और (३) नीचली—ये तीन तीन भेद हैं। (इस तरह ये सब मिलाकर ९ हुए [illegible]) निचली त्रिक के नीचे [illegible] के देव, (२) निचली त्रिक के मध्यम स्थान और (३) निचली त्रिक के ऊपरी स्थान के

(२१२) (४) मध्यम त्रिक के नीचे स्थान के देव, (५) मध्यम त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (६) मध्यम त्रिक के ऊपरी स्थान के देव।

(२१३) (७) ऊपर त्रिक के नीचे स्थान के देव, (८) ऊपर की त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (९) ऊपर की त्रिक के ऊपर स्थान के देव—ग्रैवेयक के देवों के ये ९ भेद कहे हैं। और (१) विजय, (२) वैजयंत, (३) जयंत और (४) अपराजित।

(२१४) और (५) सर्वार्थसिद्धि—ये पांच अनुत्तर विमान हैं। इनमें रहनेवाले वैमानिक देव इस प्रकार से ५ प्रकार के हैं।

(२१५) ये सब देवलोक के अमुक भाग में ही अवस्थित हैं सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं। अब मैं इनका कालविभाग चार प्रकार से कहूँगा।

(२१६) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सब देव अनादि अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से सादि-सांत हैं।

(२१७) भवनवासी देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर से कुछ अधिक कही है।

(२१८) व्यंतर देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की तथा अधिक से अधिक एक पल्य की है।

(२१९) ज्योतिष्क देवोंकी आयुस्थिति जघन्य एक पल्य के आठवें भाग की तथा उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष सहित एक पल्य की है।

(२२०) सौधर्म स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: एक पल्य की तथा दो सागर की है।

(२२१) ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: १ पल्य तथा २ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२२) सनत्कुमार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: २ सागर तथा ७ सागर की है।

(२२३) महेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: २ सागर से कुछ अधिक तथा ७ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२४) ब्रह्मलोक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: ७ सागर की तथा १० सागर की है।

(२२५) लांतक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: १० सागर की तथा १४ सागर की है।

(२२६) महाशुक्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: १४ सागर की तथा १७ सागर की है।

(२२७) सहस्रार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: १७ सागर की तथा १८ सागर की है।

(२२८) आनत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमश: १८ सागर की तथा १९ सागर की है।

(२२९) प्राणत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट [illegible] १९ सागर की तथा [illegible] सागर [illegible] है

(२३०) आरण स्वर्ग के देवों [illegible] जघन्य [illegible] उत्कृष्ट [illegible] २० सागर की तथा [illegible]

(२३१) अच्युत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २१ सागर की तथा २२ सागर की है।
(२३२) प्रथम ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २२ सागर की तथा २३ सागर की है।
(२३३) द्वितीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों का जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २३ सागर की तथा २४ सागर की है।
(२३४) तृतीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २४ सागर की तथा २५ सागर की है।
(२३५) चौथे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २५ सागर की तथा २६ सागर की है।
(२३६) पांचवे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २६ सागर की तथा २७ सागर की है।
(२३७) छट्ठे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २७ सागर की तथा २८ सागर की है।
(२३८) सातवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २८ सागर की तथा २९ सागर की है।
(२३९) आठवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २९ सागर की तथा ३० सागर की है।
(२४०) नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ३० सागर की तथा ३१ सागर की है।
(२४१) (१) विजय (२) वैजयन (३) जयंत (४) अपराजित—इन चारों विमानों के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमशः ३१ सागर तथा ३२ सागर की है।

(२४२) पांचवें सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में सब देवों की आयुस्थिति पूरे ३३ सागर की है। इससे अधिक या कम नहीं है।

(२४३) देवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति सर्वज्ञ भगवान ने कही है।

टिप्पणी—देवगति की आयुष्य पूर्ण होते ही दूसरा भव देवगति में नहीं होता। देव होने के बाद अन्य गति में आना पड़ता है।

(२४४) देव अपनी काया छोड़कर उस काया को फिर पावें इस अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।

(२४५) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(२४६) इस तरह रूपी तथा अरूपी—इन दो प्रकार के अजीवों, तथा संसारी एवं सिद्ध इन दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया।

(२४७) मुनि को उचित है कि यह जीव एवं अजीव संबंधी विभाग को ज्ञानी पुरुष के द्वारा बराबर समझ-समझकर उस पर दृढ़ प्रतीति लावे और सर्व प्रकार के नय निक्षेप (विचारों के वर्गीकरण) द्वारा बराबर बराबर ज्ञानदर्शन की प्राप्ति करे और आदर्श चारित्र में [illegible]।

(२४८) इसके बाद बहुत वर्षों तक शुद्ध चारित्र का [illegible] निम्नलिखित क्रम से अपना [illegible] दमन [illegible]

(२४९) (जिस तपश्चर्या द्वारा पूर्वकर्मों तथा [illegible] होता है ऐसी दीर्घ तपश्चर्या [illegible]

टिप्पणी—जिन अर्थात् रागद्वेष से सर्वथा रहित परमात्मा।

(२५९) जो जीव जिन वचनों को यथार्थ रीति से जान नहीं सकते हैं वे बिचारे अज्ञानीजीव बहुत बार बालमरण तथा अकाममरण को प्राप्त होते हैं।

(२६०) (अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी सत्पुरुषों के पास करनी चाहिये उनके गुण बताते हैं) जो बहुत से शास्त्रों के रहस्यों का जानकार हो; जिनके वचन समाधि (शान्ति) उत्पन्न करनेवाले हों, और जो केवल गुण का ही ग्रहण करते हों—ऐसे ज्ञानीपुरुष ही दूसरों के दोषों की आलोचना करने के योग्य हैं।

(२६१) (१) कंदर्प (कामकथा का संताप), (२) कौत्कुच्य (मुख द्वारा विकार भाव प्रकट करने की चेष्टा), (३) मौखर्य (हँसीमजाक अथवा किसी का निंदात्मक अनुकरण) तथा कुकथा एवं कुचेष्टाओं से दूसरों को विस्मित करनेवाला जीव कांदर्पी भावना का दोषी है।

(२६२) रस, सुख, अथवा समृद्धि के लिये जो साधक वशीकरण आदि के मन्त्र अथवा मंत्र-जंत्र (गंडे तावीज़ आदि) करता है वह आभियोगी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—कांदर्पी तथा आभियोगी आदि दुष्ट भावना करनेवाला यदि कदाचित् देवगति प्राप्त करे तो वह हीन कोटि का देव होता है।

(२६३) केवलीपुरुष ज्ञान, धर्माचार्य, तथा साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका की जो कोई निन्दा करता है तथा कपटी होता है वह किल्विषिकी भावना का दोषी है।

(२६४) निरन्तर जो गुस्से में भरा रहता है, मौका आने पर जो शत्रु का सा आचरण करता है—ऐसे २ अन्य दुष्ट कार्यों में प्रवर्तनेवाला जीव आसुरी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—निमित्त शब्द का अर्थ निमित्तशास्त्र भी होता है और वह एक ज्योतिष का अंग है। उसके झूठ मूंठ देखकर जो कोई जनता को ठगता फिरता है वह भी आसुरी वृत्ति का दोषी है।

(२६५) (१) शस्त्रग्रहण (शस्त्र आदि से आत्मघात करना), (२) विष (द्वारा आत्मघात करना), (३) ज्वलन (अग्नि में जल मरना), (४) जलप्रवेश (पानी में डूब मरना) अथवा (५) अनाचारी उपकरण (कुटिल कार्यों) का सेवन करने से जीवात्मा अनेक भवपरंपराओं का बंध करता है।

टिप्पणी—आत्मघात से जीवात्मा मुक्त होने के बदले दुगुना बंध करता है।

(२६६) इस प्रकार भवसंसार में सिद्धि को देनेवाले ऐसे उत्तम इन छत्तीस अध्ययनों को सुन्दर रीति से प्रकट कर केवलज्ञानी भगवान ज्ञातपुत्र आत्मशान्ति में लीन हो गये।

टिप्पणी—जीव और अजीव इन दोनों के विभागों को जानना जरूरी है उसके जानने के बाद ही नारकी एवम् तिर्यंच गति के दुःख और मनुष्य एवं देवगति के सुखदुःख द्वारा इस विचित्र संसार में घूमने के कारण को जानने की उत्कट अभिलाषा प्रकट होती है। ऐसी उत्कट अभिलाषा के बाद भावना का क्रमवार उस उच्चकोटि को पहुँच

जाता है जहाँ वह दुःख में भी सुख, वेदना में भी शांति का अनुभव करने लगता है। परम प्रसाद सन्तोष की भावनाएँ उसके हृदय समुद्र में हिलोरें मारने लगती हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'जीवाजीवविभक्ति' संबंधी छत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!

इसी लेखक की अन्य प्रकाशित पुस्तक

[संस्कृत भाषा के सामान्य अभ्यासी के लिये भी विशेष उपयोगी]

जैन-सिद्धांत पाठमाला

[संस्कृत छाया सहित]

उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक सूत्र संस्कृत छाया तथा गुजराती टिप्पणियों के साथ। इनके सिवाय भक्तामरादि आठ स्तोत्र।

डाक खर्च ६ आना : पृष्ठ संख्या ४६८ : मूल्य मात्र २) रुपया
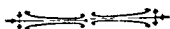
विद्वानों द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसित

[गुजराती भाषा में]

सुखनो साक्षात्कार

जिसमें आंतरिक एवं बाह्य दोनों सुखों की बहुत ही बारीकाई से सरल एवं सुन्दर व्याख्याएँ देकर सच्चे सुख के साधन बताए गये हैं।

डाक खर्च एक आना · पृष्ठ संख्या ८८ · मूल्य डेढ़ आना

सच्चे सुख के शोधकों को इस पुस्तक को मंगाकर एक बार तो इसे जरूर सांगोपांग पढ़ जाना चाहिये।

सस्ता ! सुन्दर !! सरस !!!

जिसने अनेक जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट किया है। जिसकी सभी ने एक स्वर से प्रशंसा की है।

वह

उत्तराध्ययन सूत्र

[गुजराती अनुवाद]

जिसमें संपूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र के सरल एवं सुबोध गुजराती भाषान्तर के सिवाय उपयोगी समृद्ध एवं भावपूर्ण टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

डाक खर्च चार आना : पृष्ठ संख्या ४०० : कीमत केवल छः आना

यदि आप जैन धर्म का आदर्श जानना चाहते हैं तो इसे आज ही मंगाकर पढ़ें।

जिसकी न कुछ समय में दो दो आवृत्तियाँ छपकर हाथोंहाथ बिक गईं फिर भी उसकी मांग ज्यों की त्यों बनी हुई है।

आज ही एक प्रति मंगा लीजिये, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा।

स्मरण शक्ति

[गुजराती भाषा में]

[अनुभूत प्रयोगों द्वारा सज्जित]

यह पुस्तक ज्ञान-जिज्ञासुओं एवं अभ्यासियों के लिये बड़े ही काम की है। जगत में आज तक ऐसी एक भी दवा आविष्कृत नहीं हुई जो स्मरण शक्ति की वृद्धि के लिये सीरीढी हो सकती हो। ग्रंथकर्ता ने इस छोटी सी पुस्तक में अपने स्वयं अनुभूत प्रयोग देकर इस गहन विषय को अत्यन्त ही सरल बना दिया है। आचार्यों का भी इसमें सार है कि आबाल वृद्ध सभी इससे एकसा लाभ उठा सकते हैं।

आज ही मंगाकर पढ़िये।

डाक खर्च—एक आना पृष्ठ संख्या ३४ मूल्य एक आना

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले
अमूल्य ग्रन्थ

(१) आचारांग सूत्र—

इस ग्रन्थराज की प्रशंसा करना मानों सूर्य को दिया दिखाना है। भगवान महावीर के वचनों का अपूर्व संग्रह और आचार विषयक अनुपम ग्रन्थ है। भगवान महावीर के हृदय को और जैन धर्म के अन्तरंग रहस्य को जानने का यह एक मात्र उपाय है। सरल एवं सुबोध गुजराती में टीका टिप्पणी सहित। मनोहर छपाई और सफाई के साथ मूल्य भी केवल लागत मात्रही रक्खा जायगा। अभी से अपनी कापी का आर्डर भिजवा दीजिये।

(२) लेख संग्रह—

भिन्न भिन्न धार्मिक विषयों पर विद्वान लेखक के गवेषणापूर्ण लेखों का समह। इस पुस्तक में कई एक विवादग्रस्त प्रश्नों पर प्रमाणपुरस्सर प्रकाश डाला गया है जिन्हें पढ़ कर सच्चा निर्णय करने में आपको बड़ी सहायता मिलेगी।

(३) क्रांति का सर्जनहार—

क्रान्तिकार की समालोचना। इसमें ऋषि लौंकाशाह के प्रमाणिक जीवन और उनकी भावना पर प्रकाश डाला गया है प्रत्येक जैन के घर में इस कर्मयोगी के चरित्र की १—१ प्रति अवश्य होनी चाहिये।

टिप्पणी—मनुष्य जैसा ध्यान किया करता है वैसा ही उसका आन्तरिक वातावरण बन जाता है और अन्त में वह वैसा ही हो जाता है।

(१०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वंदन करने से जीव ने यदि नीचगोत्र का बंध भी किया हो तो वह उसको छेद कर ऊँच गोत्र का बंध करता है (अर्थात् नीच वातावरण में पैदा न होकर उच्च वातावरण में पैदा होता है) और सौभाग्य और आज्ञा का सफल सामर्थ्य को प्राप्त करता है (बहुत से जीवों अथवा समाज का नेता बनता है) और दाक्षिण्यभाव (विश्ववल्लभता) को प्राप्त होता है।

(११) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रतिक्रमण के द्वारा जीवात्मा ग्रहण किये हुए व्रतों के दोषों को दूर कर सकता है। ऐसा शुद्ध व्रतधारी जीव हिंसादि के आस्रव से निवृत्त होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त होकर संयमयोग से अलग न हो कर आजन्म संयम में समाधिपूर्वक विचरता है।

(१२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कायोत्सर्ग करने से जीवको क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कायोत्सर्ग से भूत तथा वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त कर जीव शुद्ध बनता

(१६) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या प्राप्ति होती है ।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रायश्चित्त करने वाला जीव पापों की विशुद्धि करता है और व्रत के अतिचारों (दोषों) से रहित होता है और शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण कर कल्याण के मार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और वह क्रम से चारित्र तथा उसके फल (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है ।

(१७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्षमा से चित्त आह्लादित होता है और ऐसा आह्लादित जीव; जगत के यावन्मात्र जीवों (प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व इन चारों) के प्रति मैत्रीभाव पैदा कर सकता है और ऐसा विरवनिष्ठ जीव; अपने भाव को विशुद्ध बनाता है और भावविशुद्धि वाला जीव अन्त में निर्भय हो जाता है ।

टिप्पणी—दूसरों के दोषों तथा भूलों पर विचार न करने से चित्त प्रसन्न रहता है और इस समय चित्तप्रसन्नता से विशुद्ध प्रेम चित्त पर प्रकट होता है । न वह किसी को भय देता है और न स्वयं ही किसी से भयभीत होता रहता है ।

(१८) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है ।

है और जैसे भारवाहक (कुली) बोझ उतरने से शान्तिपूर्वक विचरता है वैसे ही ऐसा जीव भी चिंता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में सुखपूर्वक विचरता है।

(१३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रत्याख्यान करनेवाला जीव आते हुए नये कर्मों को रोक देता है कर्मों के रोध होने से इच्छाओं का रोध होता है। इच्छारोध होनेसे सर्व पदार्थों में वह तृष्णा रहित होजाता है और तृष्णारहित जीव परम शान्ति में विचरता है।

(१४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव को किसकी प्राप्ति होती है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूपी बोधिलाभ को प्राप्त होता है और ऐसा बोधिलब्ध जीव देहान्त में मोक्षगामी होता है अथवा उच्च देवगति [illegible] देवलोक नव ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान [illegible] आराधना ([illegible]) करता है

(१५) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्वाध्यायादि काल के प्रति-लेखन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! काल प्रतिलेखन से जीवात्मा ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर डालता है

(२२) (शिष्य ने पूंछा:—) हे पूज्य ! अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! जो अनुप्रेक्षा (तत्त्व का पुनः २ चिन्तवन) करता है वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों का गाढ़ बंधनों से बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को शिथिल बनाता है। यदि वे लँबी स्थिति की हों तो वह उन्हें खपाकर थोड़ी स्थिति को बना देता है। तीव्र रस (विपाक) की हों तो उन्हें कम रस को बना डालता है। बहुप्रदेशी हों तो उनको अल्पप्रदेशी बना डालता है। कदाचित आयुष्य कर्म का बंध हो और न भी हो (तद्भव मोक्षगामी हो) ऐसे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता और वह अनादि अनंत दीर्घकाल से चले आते हुए संसाररूपी अरण्य (वन) को शीघ्र ही पार होजाता है।

(२३) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! धर्मकथा कहने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! धर्मकथा कहने से निर्जरा होती है और जिनेश्वर भगवानों के प्रवचनों की प्रभावना होती है और प्रवचनों की प्रभावना से भविष्यकाल में वह जीव केवल शुभकर्मों का ही बंध करता है (अशुभकर्मों का आस्रव रुक जाता है)।

(२४) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! सूत्रसिद्धान्त की आराधना से जीव को क्या लाभ है ?

(१९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ? वांचन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वांचन से कर्मों की निर्जरा होती है और सूत्रप्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ज्ञानप्राप्ति होने से तीर्थंकर भगवानों के सत्य धर्म का अवलंबन मिलता है और सत्यधर्म का सहारा मिलने से कर्मों की निर्जरा कर आत्मा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पणी—वांचन में स्ववांचन (अपने आप पढ़ना) तथा अध्ययन (किसी दूसरे के पास जाकर पढ़ना) इन दोनों का समावेश होता है।

(२०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! शास्त्रचर्चा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव शास्त्रचर्चा करता है वह महापुरुषों के सूत्रों तथा उनके रहस्य इन दोनों को समझ सकता है। सूत्रार्थ का जानकार जीव शीघ्र ही कांक्षामोहनीय कर्म का क्षय कर देता है। (यहां कांक्षा-मोहनीय का अर्थ चारित्रमोहनीय है)

(२१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सूत्रपुनरावर्तन करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव सूत्रपुनरावर्तन (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन) करता है उसको अपने भूले हुए पाठ फिर याद हो जाते हैं और ऐसा आत्मा को अक्षरलब्धि (अक्षरों का स्मरण) तथा पदलब्धि (पदों का स्मरण) होता है।

अनन्तशांति को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है।

(२९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! विषयजन्य सुखों से दूर रहकर संतोषी जीवन बिताने से क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! संतोषीजीव व्याकुलता का नाश कर देता है व्याकुलतारहित जीव शांति का अनुभव करता है और शांतपुरुष ही स्थितबुद्धि होता है और ऐसा स्थितबुद्धि जीव हर्ष, विषाद अथवा शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्मों का क्षय करता है।

टिप्पणीः—आत्मा को जो कर्म संयम धारण नहीं करने देते उसे चारित्र-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(३०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! (विषयादि के) अप्रतिबंध से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव विषयादि के बंधनों से अप्रतिबद्ध रहता है उसे असंगता (आसक्ति-हीनता) प्राप्त होती है। असगता से उसे चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है और उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में न बंधकर एकान्त शान्ति को प्राप्त होता है और आसक्तिरहित होकर विचरता है।

(३१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! एकान्त (स्त्री इत्यादि संग रहित) स्थान, आसन तथा शयन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! एकान्तसेवन से चारित्र का रक्षण होता है और शुद्ध चारित्रधारी जीव रसासक्ति

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! सूत्र की आराधना करने से जीवात्मा का अज्ञान दूर होता है और अज्ञानरहित जीव कभी भी कहीं पर भी दुःख नहीं पाता है।

(२५) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! मन की एकाग्रता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! मन की एकाग्रता से जीव अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है (मन को अपने वश में रखता है)।

(२६) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! संयमधारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! जो जीव संयमधारण करता है उसे अनास्रवत्व (आते हुए कर्मों का बंध होना) प्राप्त होता है।

(२७) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! शुद्धतप करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! शुद्धतप करने से जीवात्मा अपने पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

(२८) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! सर्व कर्मों के बिखरने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! कर्मों के बिखर जाने से जीवात्मा सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हो जाता है और ऐसा जीव ही अन्त में सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त होकर

(३४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! उपधि (संयमी के उपकरणों का पच्चक्खाण करने से जीव को क्या लाभ है।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! उपधि (संयमी के उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव उनको उठाने, रखने अथवा रक्षा करने की चिन्ता से मुक्त होता है और उपधि-रहित जीव निःस्पृही (स्वाध्याय अथवा ध्यान चिन्तन में निश्चिन्त) होकर उपधि न मिलने से कभी दुखी नहीं होता।

(३५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सर्वथा आहार के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सर्वथा आहार त्याग करने की योग्यतावाला जीव आहार त्याग से जीवन की लालसा से छूट जाता है और जीवन की लालसा से छूटा हुआ जीव भोजन न मिलने से कभी भी खेदखिन्न नहीं होता।

(३६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कषायों के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कषायों के त्याग से जीव को वीतराग भाव पैदा होता है और वीतराग भाव प्राप्त जीव के लिये सुख दुःख सब समान हो जाते हैं।

(३७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) के त्याग से जीवात्मा को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! योग के त्याग से जीव अयोगी (योग की प्रवृत्ति रहित) हो जाता है और ऐसा

अयोगी जीव निश्चय से नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है।

(३८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! शरीर त्यागने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! शरीर त्यागने से सिद्ध भगवान के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त होता है और सिद्ध के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह जीवात्मा लोकाग्र में जाकर परमसुख को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध (सर्व कर्मों से विमुक्त) होता है।

(३९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! सहायक के त्याग से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! सहायक का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी और अल्पभाषी होकर संयम, संवर और समाधि में बहुत दृढ़ होता है।

(४०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाले जीव को क्या लाभ होता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाला जीवात्मा अपने अनशन द्वारा सैंकड़ों भवों का नाश कर देता है (अल्प संसारी होता है)।

(४१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य सर्व योगनिरोध क्रिया करने से जीव को क्या लाभ है?

(४९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! मृदुता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मृदुता से जीव अभिमान-रहित हो जाता है और वह कोमल मृदुता को प्राप्त कर आठ प्रकार के मदरूपी शत्रु का संहार कर सकता है।

टिप्पणी:—जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ तथा ऐश्वर्य ये ८ मद के स्थान हैं।

(५०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! भावसत्य (शुद्ध अंतःकरण) से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! भावसत्य होने से हृदय-विशुद्धि होती है और ऐसा जीवात्मा ही अर्हन्त प्रभु द्वारा निरूपित धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म का आराधक पुरुष ही लोक परलोक दोनों को साध सकता है।

(५१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से [illegible] करने की शक्ति पैदा होती है और [illegible] जैसा बोलता है वैसा ही करता है।

[illegible] —[illegible] योगसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु [illegible] —[illegible] भद्र [illegible] योगों को [illegible]

[illegible] —[illegible] मन वचन और काय का प्रवृत्ति।

होने से वह जीवात्मा शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से मुक्त होता है।

(४५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वीतराग भाव धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वीतराग पुरुष स्नेहबंधनों का नाश कर देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों में विरक्त हो जाता है।

टिप्पणीः—वीतरागता यहां केवल वैराग्यसूचक है।

(४६) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्षमा धारण करने से जीव विकट परिषहों को जीत लेने की क्षमता प्राप्त करता है।

(४७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! निर्लोभिता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा हे भद्र ! निर्लोभी जीव अपरिग्रही होता है और उन कष्टों से बच जाता है जो धनलोलुपी पुरुषों को सहने पड़ते हैं। निर्लोभी जीव ही निराकुल रहता है।

(४८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! निष्कपटता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! निष्कपटता से जीव को मन, वचन और काय की सरलता प्राप्त होती [illegible] सरल पुरुष किसी के साथ भी प्रवंचना [illegible] करता [illegible] ऐसा पुरुष धर्म का आ[illegible]

प्राप्ति से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है और उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

(५७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव अपने बोधि सम्यक्त्व की पर्यायों को निर्मल किया करता है और सुलभ बोधि को प्राप्त होकर दुर्लभ बोधित्व को दूर करता है।

(५८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! काय को संयम में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! काय को सत्यभाव से संयम में स्थापित करने से जीव के चारित्र की पर्यायें निर्मल होती हैं और चारित्रनिर्मल जीव ही यथाख्यात चारित्र की भावना करता है। यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि कर वह चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को नाश कर डालता है और बाद में यह जीव [illegible] मुक्त होकर अनन्त शान्ति का भोग करता है और [illegible] है।

[illegible] शिष्य ने [illegible] ज्ञानसम्पन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्न जीव यावन्मात्र [illegible] जान सकता है और [illegible] अनुगामिमय इस प्रमाण-

गुरु ने कहा—हे भद्र ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह करने से यह जीव सुन्दर असुन्दर शब्दों में रागद्वेषरहित होकर वर्तता है और ऐसा रागद्वेषनिवर्तित अणगार कर्मबंध से सर्वथा मुक्त रहता है तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(६३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चक्षुसंयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चक्षु (आंख) संयम से यह जीव सुरूप किंवा कुरूप दृश्यों में रागद्वेषरहित हो जाता है और इस कारण रागद्वेषजनित कर्म बन्धों को नहीं बांधता और पहिले जो कर्मबन्ध किया है उसका भी चय कर देता है।

(६४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! नाक का संयम करने से जीव सुवास किंवा कुवास के पदार्थों में रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! रसना इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा हे भद्र ! रसना (जीभ) के संयम से स्वादु किंवा अस्वादु रसों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इससे रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होता। जैसे डोरा (धागा) वाली सुई खोती नहीं है वैसे ही ज्ञानीजीव संसार में पथ भ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्व-पर दर्शन को बराबर जान कर असत्य मार्ग में नहीं फँसता।

(६०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! दर्शनसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! दर्शनसंपन्न जीव संसार के मूल कारण रूपी अज्ञान का नाश करता है। उसकी ज्ञानज्योति कभी नहीं बुझती और उस परम ज्योति में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन द्वारा अपनी आत्मा को संयोजित कर यह जीव सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

(६१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चारित्रसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चारित्रसंपन्नता से यह जीव शैलेशी (मेरु जैसा निश्चल अडोल) भाव को उत्पन्न करता है और ऐसा निश्चल भाव प्राप्त अणगार अवशिष्ट चार कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अनन्त शान्ति का उपभोग करता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

(६२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

जनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

(७०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! लोभविजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! लोभ को जीतने से यह जीव सन्तोष रूपी परमामृत की प्राप्ति करता है और ऐसा सन्तोषी जीव लोभजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(७१) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन के विजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन-विजय से सबसे पहिले वह जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना में उद्यमी बनता है और बाद में आठ प्रकार के कर्मों की गांठ से छूटने के लिये वह २८ प्रकार के मोहनीयकर्मों का क्रमपूर्वक क्षय करता है। इसके बाद ५ प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्मों, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म तथा पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म, इन तीनों कर्मों को एक ही साथ खपाता है। इन कर्म चतुष्टय को नाश कर लेने के बाद वह जीवात्मा श्रेष्ठ, संपूर्ण, आवरणरहित, अंधकाररहित, विशुद्ध तथा लोकालोक में प्रकाशित ऐसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद जब तक वह सयोगी (योग की प्रवृत्ति वाला) रहता है तब तक ईर्यापथिक

(६६) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से सुन्दर किंवा असुन्दर स्पर्शों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! क्रोधविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्रोधविजय से जीव को क्षमागुण की प्राप्ति होती है और ऐसा क्षमाशील जीव क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६८) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! मानविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मान के विजय से जीव को मृदुता नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और मार्दव गुण संयुक्त ऐसा जीव मानजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६९) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य मायाविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र मायाचार को जीतने से जीव को आर्जव (निष्कपटता नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और फिर आर्जवगुण समन्वित यह जीव माया-

क्षपकश्रेणि (कर्मों का क्षय करने वाली श्रेणि) का जीवात्मा दसवें गुणस्थानक से ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस दशा में उसकी कषायें क्षीण हो जाती हैं और इसलिये वह तेरहवें गुणस्थानक में पहुँच कर केवली हो जाता है। इस समय आठ कर्मों में से चार कर्मों के (निःसत्व नाम मात्र के) आवरण रह जाते हैं इसलिये यह सयोगी केवली, जबतक इस शरीर की स्थिति रहती है तब तक इस शरीर सम्बन्धी क्रियाओं के कारण कर्म करते रहते हैं किन्तु वे कर्म आसक्तिरहित होने के कारण (आत्मा को) बंधन कर्ता नहीं होते और तत्क्षण ही खिर जाते हैं। इस क्रिया को ईर्यापथ की क्रिया, कहते हैं।

आयुष्यकाल के पूर्ण होने के समय शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद जिसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहते हैं—उसको चिन्तन करते हुए सबसे पहिले मनोयोग, वचनयोग, तथा काययोग इस प्रकार इन तीनों को क्रम से रोककर अन्त में श्वासोच्छ्वास को भी रोककर यह आत्मा बिलकुल अकंप बनता है। इस स्थिति को शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में, अ, इ, उ, ऋ, तथा लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने समय मात्र की ही स्थिति होती है। बाद में शुक्ल ध्यान के चौथे भेद व्युपरतक्रियानिवृत्ति द्वारा अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों का नाशकर आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

[illegible]

तपो मार्ग

३०

समस्त संसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से घिरा हुआ है। सांसारिक समस्त प्राणी आधि, व्याधि तथा उपाधि से दुःखी हो रहे हैं। कभी शारीरिक, तो कभी मानसिक तो कभी दूसरी उपाधियां आदि की दुःख परंपरा लगी हुई रहती है और जीव इन दुःखों से निरन्तर छूटना चाहते रहते हैं।

प्रत्येक काल में प्रत्येक उद्धारक पुरुषों ने जुदे २ प्रकार की औषधियां बताई हैं। भगवान महावीर ने सर्व संकटों के निवारण के लिये मात्र एकही उत्तम कोटि की जड़ी बूटी बताई है और उसका नाम है तपश्चर्या।

तपश्चर्या के मुख्य दो भेद हैं [illegible] मानसिक, तथा [illegible]

[illegible] तपश्चर्या के [illegible] का आश्रमण रखता है [illegible] प्रवृत्तियां भी [illegible] परिस्थिति में शरीर [illegible] हो जाता है। अब

आत्मा ने जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त की होती है उसका $\frac{1}{3}$ भाग जो (मुख, कान, पेट आदि खाली अंगों में) पोला होता है। इतना भाग छोड़कर बाकी का $\frac{2}{3}$ भाग में उस सिद्धात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्धस्थान में व्याप्त हो जाते हैं। इसे उसकी अवगाहना कहते हैं। भिन्न २ सिद्धात्माओं के प्रदेश परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से मिल नहीं जाते और प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। ऐसी परम आत्माओं का वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होने से इस संसार में पुनरागमन नहीं होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक उन्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ

शरीर अप्रमत्त तथा संयमी बनता है तभी आत्मा में जिज्ञासा जागृत होती है और तभी वह चिन्तन, मनन, योगाभ्यास, ध्यान आदि आत्मसाधना के अङ्गों में प्रवृत्त हो सकती है।

इसीलिये बाह्य तपश्चर्या में (१) अणसण (उपवास), (२) ऊणोदरी (अल्पाहार), (३) भिक्षाचरी (प्राप्त भोजन में से केवल परिमित आहार लेना), (४) रसपरित्याग (स्वादेन्द्रिय का निग्रह), (५) कायक्लेश (देहदमन की क्रिया), और (६) वृत्ति संक्षेप (इच्छाएं घटाते जाना) इन ६ तपश्चर्याओं का समावेश किया है। ये छहों तपश्चर्याएं अमृत के समान फलदायी हैं। उनका जिस २ दृष्टि से जितने प्रमाण में उपयोग होगा उतना २ पाप घटता जायगा और पाप घटने से धार्मिक भाव अवश्य ही बढ़ते ही जांयगे। परन्तु इनका उपयोग अपनी शक्त्यनुसार होना चाहिये।

आन्तरिक तपश्चर्याओं में (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) कायोत्सर्ग (देहाध्यास का त्याग) इन ६ गुणों का समावेश होता है। ये छहों साधन आत्मोन्नति की भिन्न २ सीढ़ियां हैं। आत्मोन्नति के इच्छुक साधक इनके द्वारा बहुत कुछ आत्मसिद्धि कर सकते हैं।

भगवान बोले—

(१) राग और द्वेष से संचित किए हुए पापकर्म को भिक्षु जिस तप द्वारा क्षय करता है उसका मैं वर्णन करता हूँ। उसको तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) हिंसा, असत्य, अदत्त, मैथुन तथा परिग्रह इन पांच महापापों तथा रात्रिभोजन से विरक्त जीवात्मा अनास्रव होता है। (अर्थात् आते हुए नये कर्मों को रोकता है)

(३) तथा पांच समिति तथा तीन गुप्तिसहित, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय, निरभिमानी तथा शल्यरहित जीव अनास्रव होता है।

(४) उपरोक्त गुणों से विपरीत दोषों द्वारा राग तथा द्वेष से संचित किये हुए कर्म जिस विधि से नष्ट होते हैं उस विधि को एकाग्र मन से सुनो।

(५) जैसे किसी बड़े तालाव का पानी, पानी आने के मार्ग बंद होने से तथा अंदर का पानी बाहर उलीचने से तथा सूर्य के ताप द्वारा क्रमशः सुखाया जाता है, वैसे ही—

(६) संयमीपुरुष के नये पापकर्म भी व्रत द्वारा रोक दिये जाते हैं और पहिले के करोड़ों जन्मों से संचित किया हुआ पाप तपश्चर्या द्वारा झर जाता है।

(७) वह तप बाह्य तथा आन्तरिक इस तरह दो प्रकार का होता है। बाह्य तथा आन्तरिक इन दोनों तपों के ६—६ भेद और हैं।

(८) (बाह्य तप के भेद कहते हैं)—(१) अणसण (अनशन), (२) ऊणोदरी (ऊनोदरी) (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता—इस प्रकार बाह्य तप के ये ६ भेद हैं।

(९) अणसण के भी दो भेद हैं—(१) सावधिक उपवास अर्थात् अमुक मर्यादा तक अथवा नियत काल तक उपवास करना, (२) मृत्युपर्यंत का अणसण (अंतकाल तक सर्वथा निराहार रहना)। इसमें से पहिले प्रकार में

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम से कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) कर्बट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पाटण (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढाई अढाई कोस तक जहां गाम हो ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोंपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे ढेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) स्कंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

बाड़ा (बाड़ लगाया हुआ प्रदेश), (२५) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के क्षेत्रों में से भी अभिग्रह (मर्यादा) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिक्षार्थ जाऊँगा, अन्यत्र नहीं जाऊँगा—इसे क्षेत्र ऊणोदरी तप कहते हैं ।

टिप्पणी:—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन भिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्थ साधक भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं ।

(१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेढ़ेमेढ़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे । इस तरह ६ प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है ।

टिप्पणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का नियम मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है ।

(२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी अमुक प्रहर में ही भिक्षा मिलेगी तो लूँगा—ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर भिक्षाचरी करना उसे कालऊणोदरी तप कहते हैं ।

(२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहिले अथवा तीसरे प्रहर के अंतिम चौथे भाग में ही यदि भिक्षाचरी मिलेगी तो ही मैं लूँगा—इस प्रकार का संकल्प करें तो वह भी कालऊणोदरी तप कहाता है ।

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम में कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) करबट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पाटण (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढाई अढाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रमस्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोपड़ीवाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे ढेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

बाड़ा (बाड़ लगाया हुआ प्रदेश), (२५) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के क्षेत्रों में से भी अभिग्रह (मर्यादा) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिक्षार्थ जाऊँगा, अन्यत्र नहीं जाऊँगा—इसे क्षेत्र ऊनोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणी:—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन भिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्थ साधक भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं।

(१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेढ़ेमेढ़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे। इस तरह ६ प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है।

टिप्पणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का नियम मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है।

(२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी अमुक प्रहर में ही भिक्षा मिलेगी तो लूँगा—ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर भिक्षाचरी करना उसे कालऊणोदरी तप कहते हैं।

(२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहले अथवा तीसरे प्रहर के अन्तिम चौथे भाग में ही यदि भिक्षाचरी मिलेगी तो ही मैं लूँगा—इस प्रकार का संकल्प करे तो वह भी कालऊणोदरी तप कहाता है।

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उससे कम से कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) कर्बट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पाटण (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढ़ाई अढ़ाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संबाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोंपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे ढेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) स्कंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

(२२) यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलंकार सहित होंगे अथवा अमुक बालक, युवा अथवा वृद्ध ने अमुक प्रकार के वस्त्र पहिने होंगे—

(२३) अथवा अमुक रंग के वस्त्र पहिने होंगे, अथवा वे रोष सहित अथवा हर्ष सहित होने के चिन्हों सहित होंगे, ऐसे दाताओं के हाथ से ही मैं भोजन ग्रहण करूँगा—अन्य के हाथ से नहीं, इस प्रकार का संकल्प कर भिक्षाचरी में जाना उसे भावऊणोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—ऐसे कठोर संकल्प बारंबार सफल नहीं होते इसलिये भिक्षा नहीं मिलती इससे बारंबार भूखा रहने की तपश्चर्या करनी पड़े यह संभव है।

(२४) द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, तथा भाव से उपरोक्त चारों नियमों सहित होकर जो साधु विचरता है उसे 'पर्यवचर' तपश्चर्या करनेवाला साधु कहते हैं।

टिप्पणी—पर्यव का अर्थ है जिसमें उपरोक्त चारों बातें पाई जांय उस तप को 'पर्याय ऊणोदरी तप' कहते हैं।

(२५) आठ प्रकार की गोचरी में तथा सात प्रकार की एषणा में भिक्षु जो २ दूसरे अभिग्रह करता है उसे भिक्षाचरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—अन्य ग्रन्थों में इस तप का 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है। वृत्ति संक्षेप का अर्थ यह है कि जीवन सबधी आवश्यकताओं को कम से कम कर डालना। यह तीसरा बाह्य तप है।

(२६) दूध, दही, घी आदि रसों तथा अन्य रसपूर्ण पकवानों अथवा मिष्ठ, कडुआ, चपरा, नमकीन, कसैला आदि रसों

टिप्पणीः—अनुभवी द्वारा अनुभूत यह उत्तम रसायन है। आत्मा के समस्त रोगों को दूर करने की मात्र यही एक रामबाण औषधि है। दर्दियों के लिये इन्हीं उपायों को अपने जीवन में अजमा लेना और अपने जीवन का उद्धार कर लेना यह दूसरी औषधियों की तलाश में निरर्थक इधर उधर भटकते फिरने की अपेक्षा लाख दर्जे उत्तम है।

क्रिया होने पर अहंकार भाव आजाना सहज संभव है। क्रिया में अज्ञानता, हठता अथवा जड़ता होने की संभावना है। तपश्चर्या में ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों का समावेश होता है इसलिये अहंकार, अज्ञान, हठता, तथा जड़ता का नाश कर जो पण्डित साधक; आत्म-सन्तोष, आत्मशान्ति, तथा आत्मतेज को प्रकट करते हैं वे ही स्वयमेव प्रकाशित होकर तथा लोक को प्रकाश देकर अपने आयुष्य, शरीर, इन्द्रियादि साधनों को छोड़ कर साध्यसिद्ध होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'तपोमार्ग' सम्बन्धी बीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

(३२) (१) गुरु आदि बड़े पुरुषों के सामने जाना, (२) उनके सामने दोनों हाथ जोड़ना, (३) आसन देना, (४) गुरुकी अनन्यभक्ति करना, तथा (५) हृदयपूर्वक सेवा करना—इसे विनय तप कहते हैं।

टिप्पणी—अभिमान नष्ट हुए बिना सच्ची सेवा सुश्रूषा नहीं होती।

(३३) आचार्यादि दस स्थानों की शक्त्यनुसार सेवा करना उसे वैयावृत्य तप कहते हैं।

टिप्पणी—आचार्यादिमें इन १० का भी समावेश होता है:—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगिष्ठ, सहाध्यायी, साधर्मी, कुल, गण, तथा संघ।

(३४) (१) पढ़ना, (२) प्रश्नोत्तर करना, (३) पढ़े हुए का पुनः २ घोकना (रटना), (४) पठित पाठका उत्तरोत्तर गम्भीर विचार करना तथा (५) उसकी धर्मकथा कहना—ये ५ भेद स्वाध्याय तप के हैं।

(३५) समाधिवंत साधक आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का ही चिन्तवन करे इसे महापुरुष ध्यान तप कहते हैं।

(३६) सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया की अन्य सब प्रवृत्ति छोड़ देता है, शरीर को हिलाता डुलाता नहीं है उसे कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं।

(३७) इस प्रकार दोनों प्रकार के तपों को यथार्थ समझकर जो मुनि आचरण करता है वह पंडित साधक सांसारिक समस्त बन्धनों से शीघ्र ही छूट जाता है।

क्रियाएं थोड़ी देर के लिये बंद करने में समर्थ भी हों तो भी अपनी आन्तरिक क्रियात्मक प्रवृत्तियां तो चालू ही रहती हैं—वे तो होती ही रहती हैं, इसीलिये भगवान महावीर ने क्रिया को बंद करने का उपदेश न देकर, क्रिया करते हुए भी उपयोग को शुद्ध तथा स्थिर रखने का उपदेश दिया है। शुद्ध उपयोग ही आत्मलक्ष्य है और आत्मजक्षता की प्राप्ति होगई तो फिर क्रिया सम्बन्धिनी कलुषितता आसानी से ही दूर हो जाती है।

भगवान बोले—

(१) जीवात्मा को केवल सुख देनेवाली और जिसका आचरण करके अनेक जीव इस भवसागर को तैर कर पार हुए हैं ऐसी चारित्रविधि का उपदेश करता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) (मुमुक्षु को चाहिये कि) वह एक तरफ से निवृत्त हो और दूसरे मार्ग में प्रवृत्त हो (अर्थात् असंयम तथा प्रमत्त योग से निवृत्त हो तथा संयम एवं अप्रमत्त योग में प्रवृत्त हो)

(३) पापकर्म में प्रवृत्ति करानेवाले केवल दो पाप हैं—एक राग और दूसरा द्वेष। जो साधक भिक्षु इन दोनों को रोकता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(४) तीन दण्ड, तीन गर्व, और तीन शल्यों को जो भिक्षु छोड़ देता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—तीन दण्ड ये हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायदण्ड। तीन गर्वों के नाम ये हैं—ऋद्धिगर्व, रसगर्व, सातागर्व। तीन शल्यों के नाम ये हैं—मायाशल्य, निदानशल्य, और मिथ्यात्वशल्य।

चरणविधि

चारित्र के प्रकार

३१

पाप का प्रवाह चला आता है उसको रोकने की क्रिया को संवर कहते हैं। पापमें से छूट जाना अथवा धर्ममें लीन होजाना एक ही बात है। पापका आधार मात्र क्रिया पर नहीं है किन्तु क्रिया के पीछे लगे हुए आत्माके अध्यवसायों पर है। कलुषित वासनासे किया हुआ कार्य, संभव है ऊपर से बड़ा अच्छा और पुनीत भी मालूम पड़ता है किन्तु वस्तुतः वह मलीन है और व्यर्थ है। शुभभावना से किया हुआ कार्य, देखने में भले ही कनिष्ठ अथवा निम्नकोटि का मालूम होता हो फिर भी वह उत्तम है और आत्मतृप्ति के लिये पर्याप्त है।

आत्माके साथ यह शरीर भी लगा हुआ है, इसके लिये खाना, पीना, चलना, बैठना, उठना इत्यादि सभी कार्य किये बिना हम नहीं रह सकते। इनसे निवृत्त होना—कदाचित थोड़े समय के लिये संभव हो सकता है किन्तु जीवन भर के लिये वैसा रहना असंभव है। मान लीजिये कि हम बाहर की

टिप्पणी—क्रिया अर्थात् अमुक ढंग निश्चयादि की क्रिया।

(१२) तेरह प्रकार के क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के प्राणी-समूहों में तथा पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१३) जो भिक्षु (सूयगडांग सूत्र के प्रथमस्कंध के) सोलह अध्ययनों में तथा सत्रह प्रकार के असंयमों में निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१४) अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य के स्थानों में, उन्नीस प्रकार के ज्ञाता अध्ययनों में तथा बीस प्रकार के असमाधिस्थ स्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१५) इक्कीस प्रकार के सबल दोषों में एवं बाईस प्रकार के परिषहों में जो साधु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१६) सूयगडांग सूत्र के कुल तेईस अध्ययनों में तथा चौबीस प्रकार के [illegible] रूपवाले देवोंमें जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१७) जो भिक्षु पच्चीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्र के छब्बीस विभागों में अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

(५) जो भिक्षु; देव, मनुष्य, तथा पशुओं के आकस्मिक उपसर्गों को समभावसे सहन करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(६) जो भिक्षु; चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो तरह के ध्यानों को हमेशा के लिये छोड़ देता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान।

(७) पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग, पाँच समिति, पाँच पापक्रियाओं का त्याग—इन ४ बातों में जो साधु निरन्तर अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(८) छ लेश्या, छकाय तथा आहार के ६ कारणों में जो साधु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(९) सात पिंड ग्रहण की प्रतिमाओं तथा सात प्रकार के भयस्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रहता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१०) आठ प्रकार के मद, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रक्षण तथा दस प्रकार के भिक्षुधर्ममें जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(११) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं तथा बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं में जो साधु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

प्रमादस्थान

३२

जब यह संसार ही अनादि है तो दुःख भी अनादि ही मानना चाहिये। परन्तु अनादि होने पर भी, यदि दुःखका मूल ढूंढकर उस मूल को ही दूर कर दिया जाय तो संसार में रहते हुए भी दुःखपाश से छूटा जा सकता है। सर्व दुःखों से रहित होना इसी का नाम तो मोक्ष है। सम्यग्ज्ञान के सहारे ऐसे मोक्ष की प्राप्ति अनेक महापुरुषों ने की है, (प्राप्त) कर सकते हैं और प्राप्त कर सकेंगे। सर्वज्ञ का यह अनुभव वाक्य है।

जन्ममृत्यु के दुःख का मूल कारण कर्मबंधन है। उस कर्म बन्धन का मूल कारण मोह है और मोह, तृष्णा, राग या द्वेष इत्यादि में प्रमाद ही का मुख्य हाथ है। कामभोगों की आसक्ति यही प्रमाद स्थान है। प्रमाद से अज्ञान की वृद्धि होती है। अज्ञान अथवा मिथ्यात्व) से शुद्ध दृष्टि का विपर्यास होता है और चित्त में मलिनता का कचरा इकट्ठा होता जाता है। इसीलिए ऐसा मलिन चित्त मुक्ति मार्ग के अभिमुख नहीं हो सकता

(१८) सत्ताईस प्रकार के अणगारगुणों में तथा अट्ठाईस प्रकार के आचार प्रकल्पों (प्रायश्चित्तों) में जो भिक्षु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१९) उन्तीस प्रकार के पापसूत्रों के प्रसंगोंमें तथा तीस प्रकार के महामोहनीय के स्थानों में जो भिक्षु—हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२०) इकत्तीस प्रकार के सिद्ध भगवान के गुणों में, बत्तीस प्रकार के योग संग्रहों में तथा तेत्तीस प्रकार की असातनाओं में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२१) उपरोक्त सभी स्थानों में जो साधु सतत उपयोग रखता है वह पंडित साधु इस संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—संसार यह तो सद्बोध सीखने की पाठशाला है। इसका प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ नवीन पाठ देता ही रहता है। मात्र आवश्यकता है इस बात की कि आत्माका उपयोग उधर हो, दृष्टि उधर रहे। यदि हमारी दृष्टि में अमृत होगा तो जगत में हमें सर्वत्र अमृत ही अमृत दिखाई देगा और हमें सर्वत्र अमृत ही की प्राप्ति होगी। यहां एक से लेकर तेतीस संख्या तक की भिन्न भिन्न वस्तुएं बताई हैं। उनमें से कुछ ग्राह्य हैं, कुछ त्याज्य हैं किन्तु उनका ज्ञान होने पर ही ये दोनों क्रियाएं हो सकती हैं। इसलिए यथार्थ दृष्टि से इन सबको जानने का प्रयत्न करना यह मुमुक्षु के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'चरणविधि' नामक इकत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

(५) यदि अपने से अधिक गुणी अथवा समगुणी सहचारी न मिले तो पापकर्मों से निवृत्त होकर और कामों को दूर करके एकाकी रहे और रागद्वेषरहित होकर शान्तिपूर्वक विचरे।

टिप्पणी—साधक को सहचारी की हमेशा आवश्यकता रहती है किन्तु यदि उपयुक्त सहचारी न मिले, तो एकाकी रहे किन्तु दुर्गुणी का संग तो कदापि कभी न करे। इस सूत्र में एक चर्या का विधान नहीं किया गया है किन्तु दुर्गुणी के सहवास से ही बचाव—इसका ध्यान देने के लिये ही 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है

(६) जैसे अण्डे में से पक्षी और पक्षी में से अंडा इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भाव है वैसे ही मोह से तृष्णा और तृष्णा से मोह इस तरह इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध जनक भाव महापुरुषों ने बताया है।

(७) इसी तरह राग एवं द्वेष ये दोनों ही कर्मों के बीजरूप हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं और वे ही कर्म जन्म-मरण के मूल कारण हैं और जन्म-मरण ही सब दुःखों के मूल-कारण हैं—ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

टिप्पणी—दुःख का कारण जन्म-मरण, जन्म-मरण का कारण कर्म और कर्म का मूलकारण मोह और मोह का मूलकारण अज्ञान है। इस प्रकार अज्ञान ही समस्त संसार का मूलकारण है।

(८) ... न रहित नष्ट हुआ है जिसको ... होता।
... तरह मोह जिसका नष्ट हुआ ... से
... नष्ट हुई ...

गुरुजन तथा महापुरुषों की सेवा, सत्संग, तथा सद्वाचन से जिज्ञासा जागृत होती है। सच्ची जिज्ञासा के जागृत होने पर सत्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, संयम, आदि जैसे उत्तम गुणों की तरफ रुचि बढ़ती है और ऐसे आचरण से पूर्व की मलिनता धुल कर शुद्ध भावनाएं जागृत होती हैं। ऐसी भावनाएं चिन्तन, मनन, तथा निदिध्यास में उपयोगी तथा आत्मविकास में खूब ही सहायक हो सकती हैं।'

भगवान बोले—

(१) अनादि काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों की मुक्ति का एकान्त हितकारी तथा कल्याणकारी उपाय कहता हूँ उसे तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) संपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान तथा मोह के सम्पूर्ण त्याग से, राग एवं द्वेष के क्षय से, एकान्तसुखकारी मोक्षपद की प्राप्ति की जा सकती है।

उस मोक्ष की प्राप्ति के क्या उपाय हैं ?

(३) बाल जीवों के संग से दूर रहना, गुरुजन तथा वृद्ध—अनुभवी महापुरुषों की सेवा करना तथा एकान्त में रहकर धैर्यपूर्वक स्वाध्याय, सूत्र तथा उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तवन करना—यही मोक्ष का मार्ग (उपाय) है।

(४) तथा समाधि की इच्छावाले तपस्वी साधु को परिमित एवं शुद्ध आहार ही ग्रहण करना चाहिये, निपुणार्थ बुद्धिवाले (मुमुक्षु) साथी को ढूंढना चाहिये और स्थान भी एकान्त (ध्यान धरने योग्य) ही पसन्द करना चाहिये।

(१३) जैसे बिल्लियों के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त (उचित) नहीं है वैसे ही स्त्रियों के स्थान के पास ब्रह्मचारी पुरुष का निवास भी योग्य नहीं है।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी के लिये जिस तरह स्पर्शेन्द्रिय का संयम तथा स्त्रीसंसर्गत्याग आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्रियों को भी इन दोनों बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१४) अतः तथा तपस्वीसाधक स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास हास्य, मंजुलवचन, अंगोपांग की गठन, कटाक्ष आदि देखकर उन्हें अपने चित्त में न लावे और न इच्छापूर्वक उन्हें देखने का प्रयत्न ही करे।

(१५) उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत में लगे हुए और ध्यान के अनुरागी साधक स्त्रियों का दर्शन, उनकी वांछा, उनका चिन्तवन अथवा उनका गुणकीर्तन न करें इसी में उनका हित है।

(१६) मन, वचन और काय इन तीनों का संयम रखनेवाले समर्थ योगीश्वर जिनको डिगाने में दिव्य कान्तिधारी देवांगनाएं भी सफल नहीं हो सकतीं, ऐसे मुनियों को भी स्त्री आदि से रहित एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर मुमुक्षु को एकान्तवास ही सेवन करना चाहिये।

(१७) मोक्ष की आकांक्षावाले संसार से डरे हुए और धर्म में [illegible]

नष्ट हुई समझो जिसको किसी भी वस्तु का प्रलोभन नहीं होता। और जिसका लोभ ही नष्ट हो चुका है उसके लिये आसक्ति जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती।

(९) इसलिये राग, द्वेष और मोह—इन तीनों को मूलसहित उखाड़ फेंकने की इच्छावाले साधु को जिन जिन उपायों को ग्रहण करना चाहिये उनको मैं यहां क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ। (उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो)

(१०) विविध प्रकार के रसों (रसवाले पदार्थों) को अपने कल्याण के इच्छुक साधु को भोगना नहीं चाहिये क्योंकि रस, इन्द्रियों को उत्तेजित कर देते हैं और जैसे मीठे फल-वाले वृक्ष के ऊपर पक्षी टूट पड़ते हैं तथा उसे दुःख देते हैं वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में उन्मत्त हुए मनुष्य के ऊपर कामभोग भी टूट पड़ते हैं और उसे पीड़ित करते हैं।

(११) जिस तरह बहुत ही सूखे (ईंधन रूप) वृक्षों से भरे हुए वन में, पवन के झकोरों सहित उत्पन्न हुई दावानल बुझती नहीं है उसी तरह विविध प्रकार के रसवाले आहारों को भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती (इसलिये रस सेवन करना किसी भी मनुष्य के लिये हितकारी नहीं है)।

(१२) जैसे उत्तम औषधियों से रोग शान्त होजाता है वैसे ही दमितेन्द्रिय, एकान्त शयन एकान्त आसन इत्यादि भोगने-वाले तथा अल्पाहारी मुनि के चित्त का रागरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकते। (अर्थात् आसक्तियां उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं)

(४४) झूंठ बोलने के पहिले, बोलने के बाद तथा बोलते समय भी वह असत्यभाषी दुःखी आत्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करके तथा शब्द में अतृप्त रहते हुए और भी दुःखी और असहायी बन जाता है।

(४५) शब्द में अनुरक्त ऐसे जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले ? वह शब्द का उपभोग करते हुए भी अत्यन्त क्लेश तथा दुःख पाता है फिर इनको प्राप्त करने के लिए भोक्तव्य दुःख की बात ही क्या ?

(४६) इसीप्रकार अमनोज्ञ शब्द में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्पराएँ उत्पन्न करता है तथा दुष्टचित्त होनेसे केवल कर्मों को संचित करता है और उन कर्मों का परिणाम केवल दुःखकर ही होता है।

(४७) परन्तु शब्द से विरक्त हुआ जीव उस तरह के शोक से रहित रहता है और जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलपत्र जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहता हुआ वह जीव दास दुःख परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(४८) गंध यह घ्राणेन्द्रिय (नाक) का ग्राह्य विषय है। सुगंध राग का तथा दुर्गंध द्वेष का कारण है। जो जीव इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(४९) नासिका गंध ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ गंध राग का हेतु है और अमनोज्ञ गंध द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(३९) सुन्दर शब्द में एकान्त आसक्त वह रागी जीव अमनोज्ञ शब्द पर द्वेष करता है और अन्त में उसके दुःख में खूब ही पीड़ित होता है; किन्तु ऐसे दोष में विरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(४०) अत्यन्त स्वार्थी, मलिन वह अज्ञानी जीव शब्द की आसक्ति का अनुसरण करके अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न २ उपायों से उन्हें परिताप तथा पीड़ा देता है।

(४१) मधुर शब्द की आसक्ति में मूर्छित हुआ जीव मनोज्ञ शब्द को प्राप्त करने में, उसका रक्षण करने में, उसके वियोग में, अथवा उसके नाश में कभी भी सुख कहां पाता है! उसको भोग करते हुए भी उसको तृप्ति नहीं होती।

(४२) शब्द भोगने में असन्तुष्ट उस जीव की मूर्छा के कारण उस पर और भी आसक्ति बढ़ जाती है और तब वह आसक्त जीव कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तोष दोष से लोभातुर होकर वह दूसरे का अदत्त भी ग्रहण करने लगता है। (दूसरों के भोगों में चोरी से हिस्सा बंटाता है)।

(४३) तृष्णा से पराजित हुआ वह जीव अदत्त का ग्रहण (चोरी) करता है और वह शब्द का लालच तथा उसकी तृप्ति करने में अति असन्तुष्ट रहता है और लोभ के दोष से वह [illegible] कपट [illegible] का सहारा लेता है और [illegible] दुःख से छूट नहीं सकता।

में रहने पर भी (वह जीव) उपरोक्त दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

(६१) जीभ रस का ग्राहक है। रस यह जीभ का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु है। जो जीव इन दोनों में समभाव रखता है वही वीतरागी है।

(६२) जीभ रस को ग्रहण करती है और रस जीभ का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(६३) जैसे रस का भोगी मच्छ मांस के लोभ से लोहे के काँटे में फंस जाता है वैसे ही रसों में तीव्र आसक्तिवाला जीव भी अकालमृत्यु को प्राप्त होता है।

(६४) और जो जीव अमनोज्ञ रस पर तीव्र द्वेष रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है इसमें रस का जरा भी दोष नहीं है।

(६५) मनोज्ञ रस में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ रस पर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष से वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(६६) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव रस में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परितापित तथा पीड़ा देता है।

ही दुर्दन्त दोष से दुःखी होता है उसमें भाव का किंचिन्मात्र भी दोष नहीं है।

(९१) मनोज्ञ भाव में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष में वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(९२) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव, भाव में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।

(९३) फिर भी भाव की आसक्ति तथा मूर्च्छा से मनोज्ञ भाव को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके विनाश में उस जीव को सुख कहाँ मिलता है? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(९४) जब भावको भोगते हुए भी वह असन्तुष्ट रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और अति आसक्त वह जीव कभी भी संतुष्ट नहीं होता और असन्तोष के कारण लोभाकृष्ट होकर वह दुःखी जीव दूसरों द्वारा नहीं दिये हुए पदार्थ को भी चोरी करने लगता है।

(९५) इस प्रकार चोरी करने वाला, तृष्णा द्वारा पराजित तथा भाव भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

(९६) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा

(८४) इस तरह स्पर्श में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? स्पर्श के जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये, उसने कष्ट भोगा उस स्पर्श के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही मिलते हैं।

(८५) इस प्रकार अमनोज्ञ स्पर्श में द्वेष करने वाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्म संचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(८६) परन्तु जो जीव स्पर्श से विरक्त रह सकते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं और जल में उत्पन्न हुआ कमल दल जैसे जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।

(८७) भाव यह मनका विषय है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का हेतु है। जो इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(८८) मन यह भाव का ग्राहक है और भाव यह मन का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का कारण है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(८९) जो जीव भावों में अति आसक्त होते हैं वे जीव, मनचल हथिनी के पीछे दौड़ता हुआ मदोन्मत्त हाथी जैसे गड्ढे में पड़ कर मर जाता है वैसे ही अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(९०) और जो जीव अमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख का पात्र होता है। इस तरह यह जीव अपने

(६) अरति (७) रति, (८) हास्य, (९) भय, (१०) शोक, (११) पुरुषवेद का उदय, (१२) स्त्रीवेद का उदय, (१३) नपुंसकवेद का उदय, और (१४) भिन्न भिन्न प्रकार के खेद। (ये सब भाव मोहासक्त जीवों को हुआ करते हैं।)

(१०३) इस तरह कामभोग में आसक्त हुआ जीव इस प्रकार के अनेक दुर्गतिदायक दोषों को इकट्ठा कर लज्जित होता है और सर्व स्थानों में अप्रीतिकारी करुणोत्पादक दीन बना हुआ वह दूसरे बहुत से दोषों को भी प्राप्त होता है।

(१०४) इसी तरह इन्द्रियों के विषयरूपी चोर के वशीभूत हुआ भिक्षु भी अपनी सेवा करने के लिये साथी (शिष्यादि) की इच्छा करता है किन्तु साधु के आचार को पालना नहीं चाहता और संयमी होने पर भी तप के प्रभाव को न पहिचान कर पश्चात्ताप (अरे, क्यों मैंने त्याग किया? इत्यादि) किया करता है। इस तरह से अनेकानेक विकारों (दोषों) को वह उत्पन्न करता जाता है।

(१०५) इसके बाद ऐसे विकारों के कारण, मोहरूपी महासागर में डूबने के उसे भिन्न भिन्न निमित्त कारण मिल जाते हैं और वह अनुचित कार्यों में लग जाता है। उससे उत्पन्न हुए दुःख को दूर कर सुख की इच्छा से वह आसक्त प्राणी हिंसादि कार्यों में भी प्रवृत्ति करने लगता है।

(१०६) किन्तु जो विषयविकारों से विरक्त हैं उन्हें इन्द्रियों के इस प्रकार के शब्दादि विषय मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ के भाव ही उत्पन्न नहीं कर सकते अर्थात् रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते)।

इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करके भी भाव में तो अतृप्त ही रहने में वह और भी दुःखी तथा असहाय होता है।

(९७) इस तरह भाव में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है? जिस भाव के पदार्थों को प्राप्त करने में उसने कष्ट भोगा उस भाव के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही उठाने पड़ते हैं।

(९८) इस प्रकार अमनोज्ञ भाव में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और उसके द्वेषपूर्ण चित्त होने से वह केवल कर्मसंचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(९९) परन्तु जो जीव भाव से विरक्त रह सकता है वह शोक से भी रहित रहता है जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलदल जल से अलिप्त रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी उपरोक्त प्रकार के दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(१००) इस तरह इन्द्रियों तथा मन के विषय आसक्त जीव को केवल दुःख के ही कारण होते हैं। वे ही विषय वीतरागी पुरुष को कदापि थोड़ा भी दुःख नहीं दे सकते।

(१०१) कामभोग के पदार्थ स्वयमेव तो समता या विकारभाव उत्पन्न करते नहीं हैं किन्तु रागद्वेष से भरी हुई यह आत्मा ही उनमें आसक्त होकर मोह के कारण (उन विषयों में) विकारभाव करने लगती है।

(१०२) (मोहनीय कर्म से जो १४ भाव उदित होते हैं वे ये हैं:—) (१) क्रोध (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) जुगुप्सा,

यह है कि इन सब विषयों का बहुत ही गाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध है और जो एक भी इन्द्रिय का काबू होने पाया तो दूसरी इन्द्रियों पर काबू रख ही नहीं सकता। जो कोई जिह्वा का काबू खोता है वह दूसरी इन्द्रियों का भी काबू गुमा देता है इसलिये एक भी इन्द्रिय को छूट देना यह यद्यपि देखने में तो एक छोटी सी भूल मालूम होती है, किन्तु यह महान अनर्थ का कारण है जिसका परिणाम एक नहीं किन्तु अनेक भवों तक भोगना पड़ता है इसलिये मुमुक्षु साधक को दान्त, शान्त और सजग रहना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस तरह 'प्रमादस्थान' सम्बन्धी बत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

(१०७)इस तरह संयम के अनुष्ठानों द्वारा संकल्प-विकल्पों में समता प्राप्त कर उस विरागी आत्मा की शब्दादि विषयों के असंकल्प से (दुष्ट चिंतवन न करने से) कामभोग सम्बन्धी तृष्णा बिलकुल क्षीण हो जाती है।

(१०८)कृतकृत्य वह वीतरागी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को एक क्षणमात्र में खपा देता है और उसी तरह दर्शनावरणीय एवं अन्तराय को खपा देता है। (इस तरह समस्त घातिया कर्मों का नाश कर देता है)

(१०९)मोह एवं अन्तरायरहित वह योगीश्वर आत्मा; जगत के यावन्मात्र पदार्थों को जानने एवं अनुभव करने लगती है तथा पाप के प्रवाह रोककर शुक्लध्यान की समाधि प्राप्त कर सर्वथा शुद्ध हो जाती है और आयु के क्षय होने पर मोक्ष को प्राप्त होती है।

(११०)जो दुःख यावन्मात्र संसारी जीवों को पीड़ित कर रहा है उस सर्व दुःख से तथा संसार रूपी अनादि अनन्त रोग से ऐसा प्रशस्त जीवात्मा सर्वथा मुक्त हो जाता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अनन्त सुख का स्वामी होता है।

(१११)अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए दुःख बन्धन की मुक्तिका यह मार्ग भगवान ने इस प्रकार कहा है। बहुत से जीव क्रमपूर्वक इस मार्ग का अनुसरण कर अत्यन्त सुखी (मोक्ष को प्राप्त) हुए हैं।

टिप्पणी—शब्द रूप, गंध, रस तथा स्पर्श ये पांच विषय हैं। ये अपना अपना अनुकूल इन्द्रिय को उत्तेजित करने का काम बड़ी ही सफलतापूर्वक करते हैं मात्र निमित्त मिलना चाहिये। दूसरी बात

विकसित होने पर उस शुभ कर्मरूपी सुनहरी बेड़ियों से भी छूट जाने का पुरुषार्थ करना—इसी में जीवन की सफलता समाई हुई है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'कर्मप्रकृति' संबंधी तेवीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

(२३-२४) ईर्ष्यालु, कदाग्रही (असहिष्णु) तप ग्रहण न करनेवाला, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, लंपट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ, प्रमादी, स्वार्थी, आरंभी, क्षुद्र तथा साहसी इत्यादि प्रकार के जीव को नील लेश्याधारी समझना चाहिये।

(२५-२६) वाणी और आचार में (अप्रामाणिक), मायावी, अभिमानी, अपने दोष को छुपानेवाला, परिग्रही, अनार्य, मिथ्यादृष्टि, घोर और मर्मभेदी वचन बोलने वाला इन सब लक्षणों से युक्त मनुष्य को कापोती लेश्या का धारक जीव समझना चाहिये।

(२७-२८) नम्र, अचपल, सरल, अकुतूहली, विनीत, दांत, तपस्वी, योगी, धर्म में दृढ़, धर्मप्रेमी, पापभीरू, परहितैषी आदि गुणों से युक्त जीव को तेजो लेश्यावंत समझना चाहिये।

(२९-३०) जिस मनुष्य को क्रोध, मान, माया, और लोभ अल्पमात्रा में हों, जिसका चित्त संतोष के कारण शांत रहता हो, जो दमितेन्द्रिय हो; योगी, तपस्वी, अल्पभाषी, उपशम रस में मग्न, जितेन्द्रिय—इन सब गुणों से युक्त जीव को पद्म लेश्याधारी समझना चाहिये।

(३१) आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर जो धर्म एवं शुक्ल ध्यानों का चिंतवन करता है तथा राग द्वेषरहित, शांतचित्त, दमितेन्द्रिय तथा पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों से गुप्त—

(३२) अल्परागी अथवा वीतरागी, उपशांत, जितेन्द्रिय आदि गुणों में लवलीन उस जीव को शुक्ल लेश्यावान [illegible] ़िये।

(१७) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं की गंध केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों अथवा घिस जाते हुए चंदनादि की सुगंध से भी अनंत गुनी अधिक प्रशस्त होती है।

(१८) कृष्ण, नील, और कापोती इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श आरी, गाय बैल की जीभ और साग वृक्ष के पत्र की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कर्कश होता है।

(१९) तेजो, पद्म और शुक्ल इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श मक्खन, सरसों के फूल, बूर नामक वनस्पति के स्पर्श की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कोमल होता है।

(२०) इन छहों लेश्याओं के परिणाम अनुक्रम से तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी और दोसौ तेतालीस प्रकार के होते हैं।

टिप्पणी—तीन अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। फिर जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट के क्रम से ये ही तीन तीन भेद और करते जाना चाहिये।

लेश्याओं के लक्षण

(२१-२२) पांचों आस्रवों (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग) का निरन्तर सेवन करनेवाला, मन वचन और काय का असंयमी; छः काय की हिंसा में आसक्त आरम्भ में मग्न; पाप के कार्यों में प्रवृत्त साहसी और क्षुद्र [illegible] और अजितेन्द्रिय, सब का अहित करने [illegible] इन सब योगों में लगे हुए [illegible] कृष्ण लेश्यावाला समझना चाहिये।

(३९) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसहित तेतीस सागर की है।

(४०) यह लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया। अब चारों गतियों में लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कहता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(४१) (नरक गति की लेश्या स्थिति कहते हैं) नरकों में कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(४२) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है।

(४३) कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तक की है।

(४४) नरक के जीवों की लेश्या स्थिति इस प्रकार कही; अब पशु, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(४५) तिर्यच एवं मनुष्य गतियों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यच तथा सम्मूर्छन एवं गर्भज मनुष्यों में) शुक्ल लेश्या सिवाय बाकी सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल एक अन्तर्मुहूर्त की है। (इसलिये इनमें केवलज्ञानी भगवान का समावेश नहीं होता)।

(३३) असंख्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणियों के समयों की जितनी संख्या है और संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही शुभ तथा अशुभ लेश्याओं के स्थान समझना चाहिये।

टिप्पणी—दस कोड़ाकोड़ी सागरों का एक अवसर्पिणी काल तथा दस कोड़ाकोड़ी सागरों का एक उत्सर्पिणी काल होता है।

(३४) कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित तेतीस सागर तक की है।

टिप्पणी—अगले जन्म में जो लेश्या मिलनेवाली होती है वह लेश्या मृत्यु के एक मुहूर्त पहिले आती है इसीलिये एक अन्तर्मुहूर्त समय अधिक जोड़ा गया है।

(३५) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागरोपम समझनी चाहिये।

(३६) कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(३७) तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दो सागर की है।

(३८) पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित दस सागर की है।

अणगाराध्ययन

साधु का चारित्र

२५
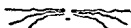
संसार के बाह्य बंधनों से छूट जाना कोई आसान बात नहीं है। संसार के क्षणभंगुर पदार्थों में बहुत से विचारे भोगविलासी जीव रच पच रहे हैं, भटकते फिर रहे हैं और स्वच्छन्दी जीवन व्यतीत कर इस लोक तथा परलोकमें परम दुःख को देनेवाले कर्मों का सञ्चय कर रहे हैं।

यहां तो, किसी क्षीणकर्मी जीव को ही सद्भाव, वैराग्य या त्याग धारण करने की उत्कट अभिलाषा पैदा होती है। यहां तो धन इकट्ठा करने के लिये ही दौड़ा दौड़ी हो रही है, त्यागभाव किसी विरले को ही होता है।

ऐसा त्यागी जीवन यद्यपि दुर्लभ है फिर भी शायद मिल भी जाय तो भी घरबार, सगेसम्बन्धी आदि को छोड़ देने से ही जीवनविकास की इतिश्री नहीं हो जाती। जितना ऊंचा आदर्श होता है, उपाधदारी भी उतनी ही भारी होती है।

त्यागी का जीवन त्यागी की सावधानी त्यागी की मनोदशा आदि कितने कठोर, उदार और पवित्र होने चाहिये उसका यहां वर्णन किया है

(६१) इसलिये इन सभी लेश्याओं के परिणामों को जानकर भिक्षु अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओं में अधिष्ठान करे ।

टिप्पणी—शुभ को सब कोई चाहता है, अशुभ को कोई नहीं चाहता। किन्तु शुभ की प्राप्ति केवल विचार करने मात्र से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति के लिये तो निरन्तर शुभ प्रयत्न करना पड़ता है।

अप्रशस्त लेश्याओं की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ईर्ष्या, क्रोध, मोह, क्रूरता, असंयम, प्रमत्तता, वासना, माया आदि निमित्त मिलते ही जीवात्मा इच्छा अथवा अनिच्छा से सहसा कुछ का कुछ कर बैठता है किन्तु कोमलता, विश्वप्रेम, संयम, त्याग, अर्पणता, अप्रमत्तता आदि उच्च सद्गुणों की आराधना करना भी कठिन है। इसी से जीवात्मा की कसौटी होती है और यहीं उपयोग की जरूरत है। ऐसी कसौटी पर चढ़नेवाला साधक ही शुभ, सुन्दर तथा प्रशस्त लेश्याओं को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'लेश्या' संबंधी चौंतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

(६) इसलिये स्मशान, शून्य घर, वृक्ष के मूल अथवा गृहस्थ के अपने लिये बनाए हुए सादे एकांत मकान में ही साधु को रागद्वेषरहित होकर निवास करना चाहिये।

टिप्पणी—उस समय में बहुत से भाविक गृहस्थ अपनी धार्मिक क्रियाएं करने का एकांत स्थान अपने घर से अलग बनवा लिया करते थे।

(७) जिस स्थान में बहुत से जीवों की उत्पत्ति न होती हो, स्वपर के लिये पीड़ाकारक न हो, स्त्रियों के आवागमन से रहित हो, ऐसे एकांत स्थान में ही परम संयमी भिक्षु को निवास करना कल्पता है (योग्य है)।

(८) भिक्षु (स्वयं) घर बनावे नहीं, दूसरों द्वारा बनवावे नहीं, क्योंकि घर बनाने की क्रिया में अनेक जीवों की हिंसा होती है।

(९) क्योंकि गृह बनाने की क्रिया में सूक्ष्म एवं स्थूल अनेक स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिये संयमी पुरुष को घर बनाने की क्रिया का सदन्तर त्याग कर देना चाहिये।

(१०) इसी प्रकार आहार पानी बनाने (रांधने) और बनवाने (रँधवाने) में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिए प्राणियों की दया के लिये संयमी साधु स्वयं अन्न न पकावे और न दूसरों द्वारा पकवावे।

(११) जल, धान्य, पृथ्वी और ईंधन के आश्रय में रहते हुए अनेक जीव आहार-पानी बनाने में हने जाते हैं, इसलिए भिक्षु को भोजन नहीं पकाना चाहिये।

भगवान बोले:—

(१) जिस मार्ग का अनुसरण करके भिक्षु दुःख का अंत कर सकता है उस तीर्थंकर निरूपित मार्ग का तुम को उपदेश करता हूँ। उसको तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) जिस साधु ने गृहस्थवास छोड़कर संयम-मार्ग अंगीकार किया है उसको इन आसक्तियों के स्वरूप को बराबर समझ लेना चाहिये जिनमें सामान्य मनुष्य बंधे हुए हैं।

टिप्पणी—'समझ लेने' से यह आशय है कि उन्हें समझ कर छोड़ देवे।

(३) इसी प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा तथा प्राप्त पदार्थों का परिग्रह (ममत्व भाव) इन ५ स्थानों का भी संयमी छोड़ देवे।

(४) चित्रों से सुशोभित, पुष्प अथवा अगरचंदन आदि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित सुंदर श्वेतवस्त्रों के चंदोवों द्वारा सुसज्जित, तथा सुन्दर किवाड़ वाले मनोहर घर की भिक्षु मन से भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—ऐसे स्थानों में न रहने के लिये जो कहा गया है उसका मतलब यह है कि बाहर का सौन्दर्य भी कई बार देखने से अन्तःकरण में विद्यमान रागादिक विकारों को उत्तेजित करने में निमित्त रूप हो जाता है।

(५) (उपरोक्त प्रकार के सुसज्जित) उपाश्रय में भिक्षु को अपनी इन्द्रिय संयम रखना कठिन होता है क्योंकि वह स्थान काम और राग को बढ़ाने वाला होता है

इस तरह न करना चाहिये। इसीलिये त्यागी के लिये भिक्षाचरी को ही धर्म बताया है।

(१६) सूत्र में निर्दिष्ट नियमानुसार ही अनिंदित घरों में सामुदानिक गोचरी करते हुए आहार की प्राप्ति हो किंवा न हो फिर भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिये।

टिप्पणी—जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निंदित हों अथवा अभक्ष्यभक्षी हों उनको छोड़कर भिक्षु को भिन्न २ कुलों में निर्दोष भिक्षावृत्ति करनी चाहिये।

(१७) अनासक्त तथा स्वादेन्द्रिय के ऊपर काबू रखनेवाला साधु रसलोलुपी न बने। यदि कदाचित सुन्दर स्वादु भोजन न मिले तो खिन्न न हो किंवा उसकी वांछा न करे। महामुनि स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिये भोजन न करे किन्तु संयमी जीवन का निर्वाह करने के उद्देश्य से ही भोजन करे।

(१८) चंदनादि का अर्चन, सुन्दर आसन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान, पूजन अथवा मलाम् वंदन—इनकी इच्छा भिक्षु मन से भी न करे।

(१९) मरणपर्यंत साधु अपरिग्रही रहकर तथा शरीर का भी ममत्व त्यागकर, नियाणरहित हो शुक्लध्यान का ध्यान धरे और अप्रतिबंधरूप से विहार करे।

(२०) कालधर्म (मृत्यु अवसर) प्राप्त हो तब चारों प्रकार के आहार त्याग कर वह समर्थ भिक्षु इस अन्तिम शरीर को छोड़ कर सब दुःखों से छूट जाय।

(१२) सब दिशाओं में शस्त्र की धारा की तरह फैली हुई औ असंख्य जीवों का घात करनेवाली ऐसी अग्नि के समा अन्य कोई दूसरा शस्त्र घातक नहीं है। इसलिये सा अग्नि कभी न जलावे।

टिप्पणी—भिक्षु स्वयं ऐसी कोई हिंसक क्रिया न करे, न दूसरों करावे और न दूसरों को वैसा करते देखकर उसकी प्रशंसा ही करे

(१३) खरीदने और बेचने की क्रियाओं से विरक्त तथा सुव एवं मिट्टी के ढेले को समान समझनेवाला ऐसा भि सोने चांदी की मन से भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी के ढेले को निर्मूल्य जानकर कोई उसे नहीं उठा वैसे ही साधु सुवर्ण को देखते हुए भी उसे स्पर्श न करे क्योंकि त्या करने के बाद उसके लिये सोना और ढेला दोनों समान हैं।

(१४) खरीदनेवाले को ग्राहक कहते हैं और जो बेचता है उ बनिया (व्यापारी) कहते हैं इसलिये यदि क्रयविक्रय साधु भाग ले तो वह साधु नहीं कहाता।

(१५) भिक्षा मांगने का लिया है व्रत जिसने ऐसे भिक्षु को भिर मांगकर ही कोई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये, खरीद क कोई वस्तु न लेनी चाहिये, क्योंकि खरीद करने औ बेचने की क्रियाओं में दोष भरा हुआ है, इसलिये भिक्ष वृत्ति ही सुखकारी है।

टिप्पणी—कंचन और कामिनी ये दो वस्तुएं संसार की बंधन हैं इनके पीछे अनेकानेक पाप भरे हुए हैं। उनको एक बार त्याग दे के बाद त्यागी को उनका परिग्रह (संग्रह) तो क्या, उनका चि

जीवाजीवविभक्ति

जीवाजीव पदार्थों का विभाग

३६

चेतन, जड़ (कर्मों) के संसर्ग से जन्ममरण के चक्र में घूमता फिरता है। इसी का नाम संसार है। ऐसे संसार की आदि का पता कैसे चले ? जब से चेतन है तभी से जड़ है—इस तरह ये दोनों तत्त्व जगत के अणु अणु में भरे पड़े हैं। हमें उसकी आदि (प्रारंभ) की चिन्ता नहीं है क्योंकि उसकी आदि किस काल में हुई—यह जानने से हमें कुछ भी लाभ नहीं है और उसे न जानने में अपनी कुछ भी हानि नहीं है। क्योंकि जैन दर्शन मानता है कि इस संसार की आदि नहीं है और समस्त प्रवाह की दृष्टि से अनन्त काल तक संसार तो चालू ही रहेगा। फिर भी मुक्त जीवों की दृष्टि से मुक्ति (संसार का अन्त) थी और रहेगा।

चेतन और जड़ का सम्बन्ध चाहे जितना भी निबिड (घट्ट) क्यों न हो, फिर भी यह संयोगिक संबंध है। समवाय संबंध का अन्त नहीं होता परन्तु संयोग संबंध का अन्त आज, कल और नहीं तो कुछ काल बाद हो जाना सम्भव है।

(२१) ममत्व और अहंकार रहित, अनास्रवी और वीतरागी होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर फिर चिरन्तन मुक्ति को प्राप्त करे।

टिप्पणी—संयम यह तलवार की धार है। संयम का मार्ग देखने में सरल दीखने पर भी आचरने में अति कठिन है। संयमी जीवन सब किसी के लिये सुलभ नहीं है, फिर भी यह एक ही कल्याण का मार्ग है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'अणगार' संबंधी पैंतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

(२) जिसमें जीव तथा अजीव ये दोनों तत्त्व भरे हुए हैं उसे तीर्थंकरों ने 'लोक' कहा है और अजीव के एक देश को जहां मात्र आकाश का ही अस्तित्व है अन्य कोई पदार्थ नहीं है—उसे 'अलोक' कहा है।

(३) जीव और अजीवों का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव—इन चार प्रकारों से होता है।

(४) अजीव तत्त्व के मुख्य रूप से (१) रूपी, (२) अरूपी, ये दो भेद हैं। उनमें से रूपी के चार तथा अरूपी के १० भेद हैं।

(५) धर्मास्तिकाय के (१) स्कंध, (२) देश, तथा (३) प्रदेश तथा अधर्मास्तिकाय के (४) स्कंध, (५) देश (६) प्रदेश,

(६) और आकाशास्तिकाय के (७) स्कंध, (८) देश, (९) प्रदेश तथा (१०) अद्धा समय (कालतत्त्व)—ये सब मिलाकर अरूपी के १० भेद हैं।

टिप्पणी—किसी भी संपूर्ण द्रव्य के पूर्ण विभाग को 'स्कंध' कहते हैं। स्कंध के अमुक कल्पित विभाग को देश कहते हैं और एक छोटा टुकड़ा जिसका फिर कोई दूसरा खण्ड न होसके किन्तु स्कंध के साथ संबंधित हो तो उसे 'प्रदेश' कहते हैं और यदि वह स्कंध से अलग हो जाय तो उसे 'परमाणु' कहते हैं।

(७) (क्षेत्र दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों का क्षेत्र लोकप्रमाण है और आकाशास्तिकाय का क्षेत्र संपूर्ण लोक और अलोक दोनों है। समय

आज चेतन और जड़ दोनों अपना २ धर्म गुमा बैठे हैं। चेतनमय जड़ और जड़मय चेतन ये दोनों परस्पर ऐसे तो एकाकार हुए दिखाई देते हैं कि सहसा उनको अलग २ नहीं पहिचाना जा सकता।

जड़ के अनादि संसर्ग से मलिन हुआ चैतन्य, जीवात्मा अथवा 'बहिरात्मा' कहलाता है और जब यह जीवात्मा अपने स्वरूप का अनुभव करने लगता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं और जो जीव कर्म रहित हो जाता है उसे 'परमात्मा' कहते हैं। जगत के पदार्थों को यथार्थ स्वरूप में जानने की इच्छा होना इसे 'जिज्ञासा' कहते हैं। ऐसी जिज्ञासा के परिणाम स्वरूप यह जगत के समस्त पदार्थों में से मूलभूत मात्र दो पदार्थों को चुन लेता है। इसके बाद ही जीव की चैतन्य तत्व पर बराबर रुचि जमती है और तभी यह शुद्ध बनने के लिये शुद्ध चैतन्य की प्रतीति कर आगे बढ़ता है। जीव तत्व के भिन्न २ स्वरूपों को जानने के बाद यह स्वयं जीव—अजीवतत्व इन दोनों तत्वों के संयोगिक बलों का विचार करने लगता है।

समस्त संसार का स्वरूप उसके सामने से मूर्तिमंत हो कर निकल जाता है तब यह आत्माभिमुख होता है और आत्मानुभव का आनन्द पाने लगता है। आत्मलक्ष्य पर ध्यान देकर आते हुए कर्मों को निरोध करता है, और धीमे २ पूर्व संचित कर्म समूह को खपाते हुए शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है।

भगवान बोले—

(१) जिस को जानकर भिक्षु संयम में उपयोग पूर्वक उद्यमवंत होता है ऐसा जीव तथा अजीव के भिन्न २ भेद संबंधी प्रकरण तुमसे कहता हूँ।

(१३) एक ही स्थान में रहने की अपेक्षा से उन रूपी अजीव पुद्गलों की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल तक की तीर्थंकर भगवानों ने कही है।

(१४) वे रूपी पुद्गल परस्पर जुदे २ होकर फिर मिल जांय उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनंत-काल तक का है।

(१५) (अब भाव से पुद्गल के भेद कहते हैं) वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा संस्थान (आकृति) की अपेक्षा से इनके ५ भेद हैं।

(१६) पुद्गलों के वर्ण (रंग) पांच प्रकार के होते हैं:—(१), काला, (२) पीला, (३) लाल, (४) नीला, और (५) सफेद।

(१७) गंध की अपेक्षा से उनके दो भेद हैं:—(१) सुगन्ध, और (२) दुर्गंध।

(१८) रस पांच प्रकार के होते हैं:—तीखा, (२) कडुआ, (३) कसैला, (४) खट्टा और (५) मीठा।

(१९) स्पर्श ८ प्रकार के होते हैं:—(१) कर्कश, (२) कोमल, (३) भारी, (४) हलका—

(२०) (५) ठंडा, (६) गर्म, (७) चिकना और (८) रूखा।

(२१) संस्थान (आकृति) के ५ भेद हैं:—(१) परिमण्डल (चूड़ी जैसा गोल), (२) वृत्ताकार (गेंद जैसा गोल), (३) त्रिकोणाकार, (४) चतुर्भुजा (५) समचतु-र्भुजाकार।

(काल) का क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र के बराबर है (अर्थात् ४५ लाख योजन है)।

(८) (काल दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय औ आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य काल की अपेक्षा अनादि एवं अनंत हैं अर्थात् प्रत्येक काल में शाश्वत ऐसा भगवान ने कहा है।

(९) समय काल भी निरन्तर प्रवाह (व्यतीत) होने की दृ से अनादि तथा अनंत है परन्तु किसी अमुक कार्य अपेक्षा से वह सादि (आदि सहित) तथा सान्त (अन सहित) है।

(१०) (१) स्कंध, (२) स्कंध के देश, (३) उसके प्रदेश तथा (४) परमाणु—ये ४ भेद रूपी पदार्थ के होते हैं

(११) द्रव्य की अपेक्षा से, जब बहुत से पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर परस्पर में मिल जाते हैं तब स्कंध बनता है और जब वे जुदे २ रहते हैं तब 'परमाणु' कहलाते हैं। क्षे की अपेक्षा से, स्कंध लोक के एक देश व्यापी हैं। और परमाणु समस्त लोक व्यापी हैं। अब पुद्गल स्कं की कालस्थिति चार प्रकार से कहता हूँ।

टिप्पणी—लोक के एक देश में अर्थात् अमुक एक आकाश प्रदेश स्कंध हों और न भी हों, किन्तु वहां परमाणु तो अवश्य होता है।

(१२) संसार प्रवाह की दृष्टि से तो वे सब अनादि तथा अनं हैं किन्तु रूपान्तर होने तथा स्थिति की अपेक्षा से वे सा एवं सान्त हैं।

(२२) रंग से काले पदार्थ में (दो) गंध, (पांच) रस, (आठ) स्पर्श, (पांच) संस्थान इस तरह २० बोलों की भजना (हो या न हो) जाननी चाहिये।

टिप्पणी—'भजना' शब्द लिखने का मतलब यह है कि जो स्थूल अनन्त प्रदेशी स्कंध पुद्गल, वर्ण में काला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान ये २० गुण जानना। परमाणु की अपेक्षा से तो एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श ये चार ही गुण होते हैं। इसी तरह सब जगह समझना चाहिये।

(२३) जो पुद्गल वर्ण (रंग) में नीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२४) जो पुद्गल रंग में लाल हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२५) जो पुद्गल रंग में पीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२६) जो पुद्गल रंग में सफेद हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२७) जो पुद्गल सुगन्ध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२८) जो पुद्गल दुर्गंध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(२९) जो पुद्गल तीखे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(३०) जो पुद्गल कडुए रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये।

(४३) जो पुद्गल वृत्ताकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४४) जो पुद्गल त्रिकोणाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४५) जो पुद्गल चतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४६) जो पुद्गल समचतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संक्षेप में कहा। अब जीवतत्त्व के विभाग को क्रमपूर्वक कहता हूँ।

(४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के अनेक भेद हैं। सो मैं तुम्हें कहता हूँ— तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

(४९) उन सिद्ध जीवों में स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश से, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी आदि) वेश से अथवा गृहस्थ वेश से भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।

टिप्पणी —स्त्री, पुरुष और वे नपुंसक जो जन्म से नपुंसक पैदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि का पूर्ण सिद्धि के लिये अपने आप को नपुंसक बना लिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधिकारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती है। इस तरह यहां तो केवल ६ प्रकार के ही सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विशेष भेद कर कुल १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है।